मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सियारामशरण गुप्त के काव्य का अनुशीलन

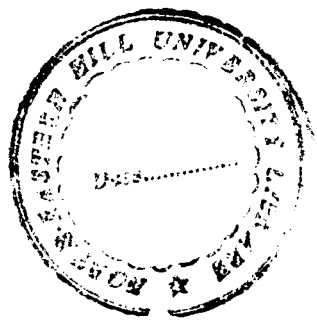

शोध निर्देशक
डॉ. सुशील कुमार शर्मा
उपाचार्य

अनुसंधित्सु
अरुणा कुमारी

हिन्दी विभाग

द्वारा

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी उपाधि के लिए अपेक्षित आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रस्तुत ।

Hindi

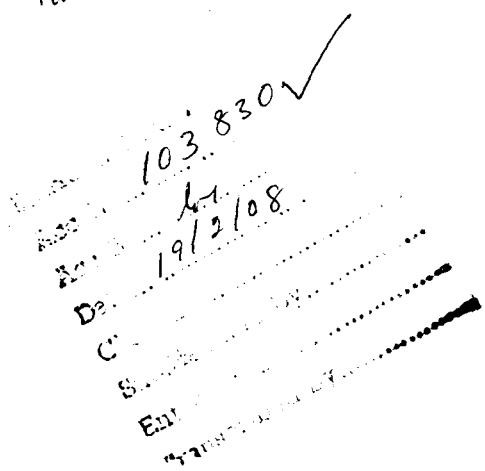

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलाँग

अक्टूबर - 2007

घोषणा

मैं अरुणा कुमारी एतद्द्वारा घोषित करती हूँ कि इस शोध-प्रबंध की विषय-सामग्री मेरे द्वारा किए गये कार्यों का परिणाम है । इस शोध-सामग्री के आधार पर न तो मुझे, और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी अन्य को पहले उपाधि प्रदान की गयी है और न ही यह शोध-प्रबंध मेरे द्वारा कोई अन्य शोध-उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय/संस्थान में प्रस्तुत किया गया है ।

इसे पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के सम्मुख हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है ।

15.10.07

अध्यक्ष
अध्यक्ष Head
हिन्दी विभाग Hindi Deptt
पू.प.वि.वि. शिलांग-22
N.E.H.U., Shillong-22

S.K. Sharma 15.10.07

निर्देशक
DR. SUSHIL KUMAR SHARMA
Reader in Hindi
North-Eastern Hill University
Shillong-793022

अरुणा

अनुसंधित्सु

प्राक्कथन

वर्तमान युग विज्ञान, तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी का युग है । वैज्ञानिक प्रगति तथा प्रौद्योगिकी विकास ने मानव-मूल्यों को काफी हद तक प्रभावित किया है ।विश्व के लोग पहले चरित्र की शिक्षा लेने भारत आते थे, किन्तु आज स्थिति विपरीत है । हम आज अपनी संस्कृति एवं पूर्वजों के आदर्शों को विस्मृत कर चुके हैं । मूल्य हीनता के इस दौर में, प्रतियोगिताओं की आड़ में मानव मानव से दूर हो रहा है । धीरे-धीरे संवेदनाओं तथा भावनाओं का भी ह्रास होता जा रहा है । आज का मानव परम्परागत मूल्यों को ताक पर रखकर अधिकाधिक बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है । आज इस विचित्र स्थिति के कारण मानव के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं । प्रत्येक व्यक्ति कुंठा, अवसाद एवं हताशा में जीवन जीने के लिए विवश है । वस्तुतः आज की समसामयिक समस्या मूल्य संकट की है । आज मूल्योन्मुख सांस्कृतिक क्रांति की महती आवश्यकता है, क्योंकि मानव-जीवन की कल्पना मूल्य की अनुपस्थिति में की ही नहीं जा सकती । जहाँ मूल्य नहीं, वहाँ मानव अस्तित्व संकट ग्रस्त ही है । मानव ही मूल्यों का निर्माता, भोक्ता और शोधक है । अतः मानव-जीवन मूल्य भावना से नियंत्रित एवं परिचालित होता है । मूल्य वे मान्यताएँ हैं -- जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और जीवन निरंतर प्रवाहमान होता रहा है ।

मूल्यों का अनुचिंतन करना किसी युग विशेष का कार्य नहीं है । प्रत्येक युग में कुछ ऐसे विशिष्ट जन होते हैं, जो इस दिशा में प्रवृत्त होते हैं । उन्हीं मान्य जनों में अग्रगण्य हैं -- कवि सियारामशरण गुप्त । गुप्त जी आधुनिक हिन्दी साहित्य के अडिग शक्ति स्तम्भ हैं । वे भारतीय नव चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं। वास्तव में, सजग साहित्यकार वही है, जो युगीन चेतना से अनुप्राणित होता है । अपने काव्य में अपनी

वैयक्तिकता का निर्बाध साक्षात्कार करता है तथा बाह्य परिवेश के मूल्यवान बिन्दुओं एवं युग-जीवन के मौलिक प्रश्नों से अपने को संपृक्त करता हुआ, शाश्वत मानव-मूल्यों की पार्श्वभूमि में नवीन चेतना-बोध एवं मूलभूत मूल्यों के उपादानों से साहित्य के शब्द-चित्र निर्मित करता है। शक्ति, अन्तर्दृष्टि और भौतिक जीवन के सामंजस्य का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत करने वाले सियारामशरण गुप्त ने सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में नवीन मान्यताओं के साथ नवीन जीवन-दर्शन भी प्रस्तुत किया है ।

सियारामशरण गुप्त के काव्यों पर अनेक शोध-प्रबंध शोधार्थियों द्वारा प्रस्तुत किए जा चुके हैं । यथा : सियारामशरण गुप्त और उनकी कृतियाँ : शिव प्रसाद मिश्र ; सियारामशरण गुप्त के काव्य का अध्ययन : लालता प्रसाद शुक्ल ; सियारामशरण गुप्त व्यक्तित्व और कृतित्व : सुमित्रा वर्मा ; सियारामशरण गुप्त के काव्य का सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अनुशीलन : सरोज गुप्त आदि ।

उपर्युक्त शोध-प्रबंधों में सियारामशरण गुप्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ही विवेचित किया गया है। अद्यावधि गुप्त जी के काव्य का मानव-मूल्यों की दृष्टि से अनुशीलन नहीं हुआ है । अतः मैंने 'मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सियारामशरण गुप्त के काव्य का अनुशीलन' करने का विनम्र प्रयास किया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से छह अध्यायों में विभाजित किया गया है । प्रथम अध्याय सैद्धान्तिक पीठिका के रूप में है । इसमें मानव-मूल्य स्वरूप विवेचन के अन्तर्गत् मूल्य का अर्थ, वर्गीकरण, विकास, मानव-स्वरूप, मूल्य और मानव तथा वर्तमान मानव की मूल्यात्मक स्थिति को समग्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । सर्वप्रथम 'मूल्य' शब्द के अर्थ-बोधक विभिन्न संदर्भों का विवेचन तथा मूल्य के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के साथ 'मूल्य' की परिभाषाओं में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य चिंतकों की दृष्टि

को शब्दबद्ध किया है । इसी अध्याय में मानव के लक्षण एवं स्वरूप के साथ-साथ मानव-मूल्य और मानव के अन्तःसम्बंधों पर प्रकाश डाला गया है । मानव का मानव-मूल्यों के साथ अन्योन्याश्रित सम्बंध है । इस चराचर जगत् में मानव की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परिवेशगत एवं परिस्थितिगत विघटित व्यक्तित्व में सौष्ठवता का संचरण मानव-मूल्यों द्वारा ही संभव है।

शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय में सियारामशरण गुप्त के जीवन एवं काव्य-परिचय को प्रस्तुत किया गया है । इसके अन्तर्गत् उनके जीवन-परिचय (जन्म, शिक्षा-दीक्षा, विवाह, गार्हस्थ्य जीवन, देहावसान) को सूचनात्मक शैली में तथा काव्य-परिचय (मौर्य-विजय, अनाथ, आर्द्रा, विषाद, दूर्वादल, बापू, उन्मुक्त, दैनिकी, नोआखाली में, नकुल, अचला आदि) को विश्लेषणात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है ।

शोध-प्रबंध के तृतीय अध्याय में साहित्य में वर्णित मानव-मूल्य के अन्तर्गत् वैदिक साहित्य में मानव-मूल्य, लौकिक साहित्य में मानव-मूल्य तथा हिन्दी साहित्य में मानव-मूल्यों को विवेचनात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है । साहित्य को जीवन की व्याख्या माना गया है । जिस बात का जीवन में मूल्य है, उसी बात का साहित्य में भी मूल्य है। इस सिद्धांत के आधार पर वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य एवं हिन्दी साहित्य के काव्य में वर्णित मानव-मूल्यों का विवेचन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि साहित्य के गर्भ में मानव-मूल्य समाहित होते हैं और वह जीवन से रस लेकर ही पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है ।

शोध-प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित वैयक्तिक मानव-मूल्य के अन्तर्गत् सत्य, अहिंसा, करुणा, शान्ति, त्याग, बलिदान, क्षमा, मृदुता, सहानुभूति, सहयोग, विश्वबंधुत्व, प्रेम आदि को विवेचित किया गया है । सियारामशरण

गुप्त मानवीय चेतना के कवि हैं । उन्होंने अतीत के गौरव से प्रेरणा ग्रहण कर अपने काव्य का प्रणयन किया है । अतः उन्होंने अपने काव्य में वैयक्तिक मूल्यों के रूप में शाश्वत मूल्यों की ही स्थापना की है ।

शोध-प्रबंध के पंचम अध्याय में सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित सामाजिक मानव-मूल्य के अन्तर्गत् पारिवारिक-मूल्य, नैतिक-मूल्य तथा सांस्कृतिक-मूल्यों का विश्लेषण किया गया है । सर्वप्रथम इस तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है कि गुप्त जी के व्यक्तित्व में कतिपय चारित्रिक विशेषताएँ थीं, जिनके कारण उनके काव्य को मूल्य-समन्वित काव्य कहा जा सकता है । उन्होंने व्यक्ति की सत्ता को समाज की इकाई के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि व्यष्टि-हित समष्टि-हित में ही निहित रहता है। अतः पारिवारिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक-मूल्यों के तहत् गुप्त जी की सामाजिक संचेतना को उद्भासित करने का प्रयास किया गया है ।

शोध-प्रबंध के षष्ठ अध्याय में सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित आध्यात्मिक मानव-मूल्य के अन्तर्गत् ज्ञान, कर्म, धर्म, निष्ठा, साधना, सहिष्णुता, समर्पण आदि का तार्किक विवेचन किया गया है । गुप्त जी किसी संप्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थे । उनकी संपूर्ण आस्था मानव तथा मानववाद में थी । अतः उनका समस्त काव्य उनकी विशुद्ध आध्यात्मिकता का साक्षात् दर्शन कराता है ।

शोध-प्रबंध के उपसंहार के अन्तर्गत् उपर्युक्त अध्यायों से प्राप्त निष्कर्षों का समाहर एवं समाकलन किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध पूज्य गुरुवर डॉ. सुशील कुमार शर्मा, रीडर, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलाँग के सफल निर्देशन में पूर्ण हुआ है । उनके स्नेहिल और विद्वतापूर्ण निर्देशन के द्वारा ही यह शोध -कार्य सम्पन्न हो सका है । उन्होंने मुझे

समय-समय पर जो सुझाव दिए इसके लिए मैं उनके भव्य-व्यक्तित्व के समक्ष विनयावत हूँ। मैं माननीय गुरु डॉ. दिनेश कुमार चौबे (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलाँग) की अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने शोध के दौरान विभागीय सुविधाएँ उपलब्ध कराकर मुझे निरन्तर प्रेरित किया । मैं डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेय एवं श्री भरत प्रसाद त्रिपाठी के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे प्रेरित कर मेरा मनोबल बढ़ाया । मैं अपनी माताजी श्रीमती गायत्रा देवी एवं पूज्य पिताजी श्री गंगा कश्यप जी को सादर नमन करती हूँ जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया । इस शोध-प्रबंध में बहुमुखी सहयोग देने वाले पूज्य पति टेकनारायण उपाध्याय, श्वसुर कृष्णलाल उपाध्याय एवं ज्येष्ठ रामप्रसाद उपाध्याय के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ । मेरे दोनों पुत्र (अनन्त एवं अनुपम) ने जो सहयोग दिया उसे भुलाना मेरे लिए असंभव है ।

मैं श्रीमती राधा राना (प्रधानाध्यापिका, गोर्खा सैकेण्डरी स्कूल, शिलाँग) एवं श्री मनोज राना (पुस्तकालय उपाध्यक्ष, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलाँग) को भी हार्दिक धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने शोध-प्रबंध की पूर्णता तक मुझे सहयोग प्रदान किया । अन्त में, मैं अपने सभी मित्र, परिवार जन एवं शुभचिंतकों की भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहयोग प्रदान किया है ।

अरुणा कुमारी

अनुसंधित्सु

विषय - अनुक्रमणिका

मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सियारामशरण गुप्त के काव्य का अनुशीलन

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन I-V

प्रथम अध्याय : मानव-मूल्य : स्वरूप विवेचन 1 - 37

1. क : मूल्य का अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप
1. ख : मूल्य-वर्गीकरण
ख. I : भारतीय दृष्टिकोण
ख. II : पाश्चात्य दृष्टिकोण
1. ग : मूल्य-विकास
1. ग. I : भारतीय परम्परा
1. ग. II : पाश्चात्य परम्परा
1. घ : मानव का लक्षण एवं स्वरूप
1. ङ : मानव-मूल्य और मानव
1. च : वर्तमान मानव की मूल्यात्मक स्थिति
1. च. I : वैयक्तिक मूल्य
1. च. II : सामाजिक मूल्य
1. च. III : आध्यात्मिक मूल्य

द्वितीय अध्याय : सियारामशरण गुप्त जीवन एवं काव्य-परिचय 38 - 88

2. क : जीवन-परिचय
2. क. I : जन्म
2. क. II : शिक्षा-दीक्षा
2. क. III : विवाह
2. क. IV : गार्हस्थ्य जीवन
2. क. V : देहावसान
2. ख : काव्य-परिचय
2. ख. I : मौर्य-विजय
2. ख. II : अनाथ
2. ख. III : विषाद

2. ख. IV : आर्द्रा
2. ख. V : दूर्वादल
2. ख. VI : आत्मोत्सर्ग
2. ख. VII : पाथेय
2. ख. VIII: मृण्मयी
2. ख. IX : बापू
2. ख. X : उन्मुक्त
2. ख. XI : दैनिकी
2. ख. XII : नोआखाली में
2. ख. XIII: नकुल
2. ख. XIV: जयहिन्द
2. ख. XV: अमृतपुत्र
2. ख. XVI: गोपिका
2. ख. XVII: अचला
2. ख. XVIII: फुटकर रचनाएँ

तृतीय अध्याय : साहित्य में वर्णित मानव-मूल्य **89 - 146**

3. क : वैदिक साहित्य में मानव-मूल्य
3. ख : लौकिक साहित्य में मानव-मूल्य
3. ग : हिन्दी साहित्य में मानव-मूल्य

चतुर्थ अध्याय : सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित वैयक्तिक मानव-मूल्य **147 - 209**

4. क : सत्य
4. ख : अहिंसा
4. ग : करुणा
4. घ : शान्ति
4. ङ : त्याग
4. च : बलिदान
4. छ : क्षमा
4. ज : मृदुता
4. झ : सहानुभूति

4. ञ : सहयोग
4. ट : विश्वबन्धुत्व
4. ठ : प्रेम

पंचम अध्याय : सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित सामाजिक मानव-मूल्य 210-251

5. क : पारिवारिक मूल्य
5. ख : नैतिक मूल्य
5. ग : सांस्कृतिक मूल्य

षष्ठ अध्याय : सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित आध्यात्मिक मानव-मूल्य 252-290

6. क : ज्ञान
6. ख : कर्म
6. ग : धर्म
6. घ : निष्ठा
6. ङ : साधना
6. च : सहिष्णुता
6. छ : समर्पण

उपसंहार 291 - 294

संदर्भ ग्रंथ-सूची 295 - 303

प्रथम अध्याय

मानव-मूल्य : स्वरूप विवेचन

प्रथम अध्याय

मानव-मूल्य : स्वरूप विवेचन

1. क मूल्य का अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप :

मूल्य का अर्थ :

हिन्दी में प्रयुक्त 'मूल्य' शब्द अंग्रेजी के 'Value' शब्द का समानार्थक है । यह लैटिन भाषा के 'बोलेड' शब्द से निष्पन्न हुआ है, इसका अर्थ है-- सुन्दर अथवा अच्छा।[1]संस्कृत में 'मूल्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'मूल' धातु में 'यत्' प्रत्यय लगने से हुई है, इसका अर्थ है -- कीमत, मजदूरी आदि ।[2] हिन्दी विश्वकोश में ''मूलेन आनाभ्यते अभिभूयते मूलेन समं वा इति मूल'' (यो वयो धर्मेत्यादिना) किसी वस्तु के बदले में मिलने वाले धन, कीमत आदि को मूल्य कहा गया है ।[3] डॉ. विमल कुमार के अनुसार-- ''मानविकी के संदर्भ में 'मूल्य' शब्द का अर्थ है जीवन-दृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई, जिसे हम सक्रिय 'नाम' भी कह सकते हैं ।''[4] मूल्य की जीवन एवं अनुभूति से सम्बद्धता स्थापित करते हुए डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे कहते हैं कि -- ''मूल्य अनन्य संसृष्ट धातु नहीं है, न स्वलक्षण धर्म, न बाह्य अथवा आन्तरिक सामान्य लक्षण । इष्ट विकल्पों में एकान्वित नाना इच्छा, संकल्प, संवेदना आदि के जटिल समूह पानकवत् आत्म सम्बद्ध-विषय निरूपक विशिष्ट प्रकार के बोध को जन्म देते हैं जिसे मूल्य कहते हैं। मूल्यों की विस्तृत उपलब्धि मानवीय अनुभूति के ऐतिहासिक सागर में पैठे बिना संभव नहीं है ।''[5] सृजनात्मकता से सम्बंध स्थापित करते हुए डॉ नगेन्द्र ने -- 'मूल्य' शब्द के अर्थ के महत्त्व को इस प्रकार व्यक्त किया है -- ''मूल्य पदार्थ की सार्थकता एवं आन्तरिक महत्त्व का ही वाचक है, उसके स्वरूप या प्रकृति का नहीं यद्यपि सार्थकता प्रायः स्वरूप से आबद्ध नहीं होती और स्पष्ट शब्दों में मूल्य का क्षेत्र पदार्थ की प्रकृति की सीमा पार कर प्रयोजन तक पहुँच जाता है ।''[6] मूल्यों का क्षेत्र व्यापक एवं

बहुआयामी है । वे परिवेश, परिस्थिति और तद्जन्य अनुभूति इन तीनों के सम्मिलित रूप में ही सामने आते हैं, इसलिए उनकी परिधि निर्धारित करना संकीर्ण दृष्टिकोण का ही परिचायक कहलाएगा । ''मूल्य-मर्यादा की प्रगति के स्रोत को केवल सामाजिक परिस्थितियों के अधीन मानना उतना ही एकांगी दृष्टिकोण है जितना उसे केवल मनुष्य के आन्तरिक संस्कारों में मानना है ।''[7]

प्राचीन भारतीय साहित्य में मूल्य के भाववाची शब्द पुरुषार्थ, प्रयोजन और मान मिलते हैं । धर्म-दर्शन के संदर्भ में 'पुरुषार्थ' चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का उल्लेख है । काव्यशास्त्र के अन्तर्गत् 'प्रयोजन' शब्द का प्रयोग काव्य के उच्चादर्शों के सम्बंध में किया गया है और 'मान' शब्द मान्यताओं का परिचायक है । यद्यपि मूल्यों का प्रतिपादन व्यक्ति विशेष द्वारा किया जाता है तथापि डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय उन्हें व्यक्ति और वस्तु के सम्बंधों का प्रतिफल मानते हैं -- ''मूल्य का सम्बंध जीवन के वास्तविक संदर्भों से है 'मूल्य' व्यक्ति विशेष द्वारा प्रतिपादित होने पर भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता । 'मूल्य' न पूर्णतः वस्तुगत होता है और व पूर्णतः व्यक्तिगत । ये वस्तु व्यक्ति के परस्पर सम्बंधों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं, संघर्षों-संगतियों के फल होते हैं ।''[8] उपयोगिता के अर्थ में 'मूल्य' वस्तु की उस क्षमता को व्यक्त करता है, जो मानव की आवश्यकताओं और इच्छाओं को संतुष्टि प्रदान करती है । विनिमय के अर्थ में यह एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आदान-प्रदान का परिमाप है जो वर्तमान में मुद्रा के रूप में प्रचलित है । परम्परागत रूप से मूल्य शब्द का सम्बंध अर्थशास्त्र से है ।

'मूल्य' शब्द का विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अधिक हुआ । अर्थशास्त्रीय सीमाओं से बाहर मूल्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम दर्शन के क्षेत्र में हुआ । पाश्चात्य दार्शनिक हर्मन लोत्से तथा फ्रेडरिक नीत्से ने मूल्य शब्द को दर्शनशास्त्र के क्षेत्र

में अवस्थित किया । दर्शनशास्त्र में 'मूल्य' शब्द अन्तश्चेतना से सम्बंधित है । जार्ज सांत्यना के अनुसार - ''मूल्य जब अन्तः प्रेरणा से प्रकट होता है और जब अन्तः प्रेरणा संज्ञान एवं संवेदना से निबंधित हो जाती है तो वे मूल्य अपने सही अस्तित्व में आते हैं । मूल्य मीमांसकों के अनुसार मूल्य स्वरूपतः भोग नहीं है । वे मानवीय चेतना के निर्देशक और उन्नायक मान हैं । उनको साधने में मनुष्य को अपनी चेतना को तथा अपने आपको गढ़ना पड़ता है ।''[9] ''भौतिक जीवन की सभी सुविधाएँ होने पर भी मनुष्य का मन अशान्त और विचलित दिखाई देता है । यही मानसिक स्थिति मनुष्य को पशु से भिन्न प्राणी सिद्ध करती है । आत्मिक शान्ति ही मनुष्य को इच्छित है । अतः दार्शनिकों ने आत्मोपलब्धि को ही जीवन का सर्वोत्तम मूल्य माना है ।''[10] जहाँ दर्शनशास्त्री मूल्य को मानवीय चेतना का उन्नायक मानते हैं वहीं नीतिशास्त्री गुणों को मूल्य के संदर्भ में विवेचित करते हैं । धीरे-धीरे मूल्य की सार्थकता साहित्य, जीवन और संस्कृति के रूप में भी विवेचित होने लगी है । इस प्रकार अपनी विकास यात्रा पर आरूढ़ 'मूल्य' शब्द ने अपना परिवेश बड़ा व्यापक बना लिया है ।

परिभाषा एवं स्वरूप :

'मूल्य' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा साहित्य आदि विभिन्न विषयों के सन्दर्भ में होने लगा है । अतः इसकी परिभाषा भी बहुआयामी हो गई है । सभी विद्वानों ने इसे अपने-अपने चिन्तन की अवधारणा के अनुसार परिभाषित करने का प्रयास किया है । अर्थशास्त्री उपयोगिता के अर्थ में मूल्य शब्द का प्रयोग करते हैं । कांट के अनुसार -- 'शुभ ही जीवन-मूल्य है ।'[11] अर्बन ने मूल्य को तीन स्तरों पर परिभाषित किया है :

1. मूल्य वह है जो मनुष्य की आकांक्षाओं को तुष्ट करता है ।

2. मूल्य वह वस्तु है जो जीवन को अग्रसरित करती है या सुरक्षित रखती है ।

3. वही वस्तु अन्तिम रूप से मूल्यवान है जो आत्म-विकास या आत्मोपलब्धि का पथ-प्रदर्शन करती है ।[12]

दर्शन के सन्दर्भ में मूल्य आत्मा का ही विषय है । मूल्य शब्द को मानवीय इच्छा और चुनाव के परिप्रेक्ष्य में भी परिभाषित किया गया है । इस दृष्टि से मूल्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक हो जाता है । गीजर ने मूल्य को मानवीय चुनाव का ही परिणाम माना है । रुचि पर आधृत होने से मूल्य का सम्बंध मनोविज्ञान से जुड़ जाता है । चुनाव रुचि के आधार पर ही किया जा सकता है । पैरी मूल्य को रुचि का ही विषय मानते हैं । इस अवधारणा के अनुसार मूल्य आत्मा और वस्तु के अन्तः सम्बंधों पर ही निश्चित होते हैं। चुनाव करते समय रुचि के साथ विवेक भी क्रियाशील रहता है । विवेक के अभाव में रुचि पाशविक भी हो सकती है । अतः विवेक का समर्थन प्राप्त करके ही रुचि 'मूल्य' का स्वरूप धारण करती है । कनकहॉल ने मूल्य की परिभाषा के सम्बंध में लिखा है -- ''मूल्य स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से व्यक्तिगत परिधियों में अथवा सामुदायिक विशेषता के नाते एक ऐसी वांछित संकल्पना है जो उपलब्ध लक्ष्यों, साधनों एवं साध्यों के चुनाव को प्रभावित करती है ।''[13] मूल्य के स्वरूप निर्धारक तत्त्वों की ओर संकेत करते हुए लेविस का कहना है -- ''मूल्य इच्छा, रुचि, भावना, प्रयोजन, लक्ष्य सभी का मिश्रण है ।''[14] महान नीतिशास्त्र विलियम लिली ने 'मूल्य' को अर्थशास्त्र का ही विषय माना है । उनका कथन है-- ''मूल्य शब्द नीतिशास्त्र में अर्थशास्त्र के माध्यम से प्रविष्ट हुआ । अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जा सकता है । पहला प्रयोग वस्तु क्षमता के लिए है जो मानवीय आवश्यकता अथवा इच्छा की पूर्ति करे तथा दूसरा प्रयोग विनिमय क्षमता के अर्थ में है जिसके माध्यम से वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है ।''[15] मूल्य का सम्बंध

मानव के चिंतन से होता है ऐसा मानते हुए प्रो. मैकेंजी लिखते हैं -- "मूल्य से हमारा आशय उस विचार से है जो एक विचारशील प्राणी के चिन्तन का परिणाम हो ।"[16] 'मूल्य' धीरे-धीरे आत्मनिष्ठा के घेरे से निकलकर विस्तृत हो गया है । कांट की तरह वह निरपेक्ष अवधारणा नहीं रह गया है । वह सापेक्षता के संदर्भ में समझा जाने लगा । सापेक्षवादी धारणा के अनुसार मूल्य न तो केवल वस्तु में ही निहित रहता है और न ही केवल आत्मा में इसकी स्थिति दोनों के सापेक्ष सम्बंध पर निर्भर करती है । किसी वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि व्यक्ति उसमें रुचि लेता है, पर व्यक्ति वस्तु में इसलिए रुचि लेता है कि उसमें कुछ रुचिपरक विशेषताएँ होती हैं । अतः मूल्य को विषयगत तथा विषयीगत दोनों के समन्वित आधार पर परिभाषित किया गया है ।

समाजशास्त्रीय चिन्तन के अनुसार मूल्य परिवेश जनित परिस्थितियों में आवश्यकता के आधार पर निर्णीत होते हैं । वे काल सापेक्ष आदर्श हैं । उचित-अनुचित का निर्णय समाज ही करता है । समाज-संदर्भ में ही लोकमंगल की अवधारणा सार्थक होती है। अतः उच्चतर मूल्यों का निर्धारण समाज एवं परिवेश में ही सम्भव है । वस्तुतः जब कोई मान्यता समाज द्वारा अपना ली जाती है तो वह मूल्य बन जाती है । हेमेन्द्र पानेरी ने मूल्यों की सामाजिक धारणाएँ स्वीकार करते हुए कहा है कि -- "प्रत्येक समाज में जीवन और पारस्परिक व्यवहार के सम्बंध में कतिपय धारणाएँ होती हैं । ये ही धारणाएँ स्थिर होकर मूल्य के पद पर प्रतिष्ठित होती हैं।"[17] समाज-संदर्भ में 'मूल्य' समाज को संगति एवं अनुशासित बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं । किसी समाज द्वारा स्वीकृत मूल्य उसकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं । आर्थिक उपयोगिता और विनिमय की परिसीमा से निकलकर मूल्य की अवधारणा मनुष्य की अंतःप्रेरणा, अंतश्चेतना, आकांक्षाओं तथा अभिरुचियों से सम्बद्ध हो जाती है । वस्तुतः अर्थशास्त्रीय संदर्भों से अलग 'मूल्य'

मानव-मूल्य का ही पर्याय है । मनुष्य को केन्द्र में रखे बिना नहीं किया जा सकता। महादेवी वर्मा ने मूल्य को परिभाषित करते हुए लिखा है -- ''वास्तव में थोड़े से सिद्धान्त में जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं, हम उन्हीं को जीवन-मूल्य कहते हैं ।''[18] इस परिभाषा में 'सिद्धान्त' शब्द मानवोचित आदर्शात्मक कृत्यों की ओर संकेत करता है । अतः सद्‌गुण स्वयं ही मूल्य को उद्‌घाटित कर देते हैं । गुण स्वयं में मूल्यवान होने से मूल्य शब्द का ही समानार्थक बन जाता है । डॉ. नगेन्द्र ने मूल्य को गुण का पर्याय माना है । उनका कथन है -- ''मूल्य उस गुण या गुण समवाय का नाम है जो किसी पदार्थ की अपने लिए, प्रमाता के लिए अथवा अपने परिवेश के लिए सार्थकता का निर्धारण करता है। पदार्थ का गुण होने के कारण मूल्य की सत्ता वस्तुपरक है, किन्तु प्रमातृ सापेक्ष होने के कारण वह व्यक्तिपरक है ।''[19] गुण जब सामाजिक संदर्भ में आते हैं तो मूल्य का रूप धारण कर लेते हैं । दया, करुणा, परोपकार, प्रेम, त्याग, मृदुता, शान्ति, सत्य, सहयोग, समर्पण तथा सदाचरण आदि गुण मनुष्य के परिप्रेक्ष्य में मानव-मूल्य बन जाते हैं । मूल्यों को मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए मानव को ही मूल्यों का संस्थापक मानते हुए हैनरी आसबर्न कहते हैं-- मानव-मूल्यों का आधार भी व्यक्ति की इच्छा, अनुमान, निर्णय, बोध-क्षमता तथा संवेदना आदि होते हैं।''[20]

अतः 'मूल्य' एक धारणा है, जिसका सम्बंध मानव से है । भौतिक जगत् में 'मूल्य' का सम्बंध उपयोगिता से है जबकि वैचारिक जगत् में वह अपनाव से सम्बंधित है। मानवीय संवेदनाओं के अभाव में हम 'मूल्य' की कल्पना भी नहीं कर सकते । इस आधार पर हम कह सकते हैं कि मूल्य-बोध का अनिवार्य आधार वैयक्तिक प्रतीति है ।

सही अर्थों में मूल्य वह वैचारिक इकाई है जिसके आधार पर मनुष्य अपना जीवन-यापन कर आत्मोत्कर्ष करता है । मूल्यों का आधार विवेक है इसी से मूल्यों की पहचान सम्भव है ।

1. ख मूल्य-वर्गीकरण :

मूल्यों का निर्माण समाज के अनुरूप होता है, इसलिए सामाजिक दृष्टि से मूल्यों के तीन भेद किए हैं --

(I) वैयक्तिक मूल्य

(II) सामाजिक मूल्य

(III) आध्यात्मिक मूल्य

1. ख.। भारतीय दृष्टिकोण :

मूल्य मीमांसक गोविन्द चन्द्र पांडे ने मूल्यों को व्यावहारिक एवं आदर्श मानते हुए दो वर्गों में विभाजित किया है । आदर्श मूल्यों को उन्होंने सात्विक श्रेणी में रखा है।[21] व्यावहारिक मूल्यों को वे देशकाल सापेक्ष व भोगात्मक स्वीकार करते हैं ।[22] डॉ. नगेन्द्र ने सामाजशास्त्रीय दृष्टि से मानव-जीवन की व्यापकता को देखते हुए मूल्यों का विभाजन इस प्रकार किया है :

1. आनन्दवादी मूल्य :

(i) आध्यात्मिक (ii) सौन्दर्यमूलक (iii) बौद्धिक

(iv) रागात्मक (v) शारीरिक

2. कल्याणवादी मूल्य :

(i) सांस्कृतिक (ii) नैतिक (iii) आर्थिक-सामाजिक[23]

हेमेन्द्र पानेरी ने मूल्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है :

1. यथार्थपरक मूल्य - वर्ण-व्यवस्था, अर्थ-प्राप्ति, जीविकोपार्जन आदि ।

2. भावपरक मूल्य - प्रेम, करुणा, दर्शन, भक्ति आदि ।[24]

मूल्य को सामाजिक प्रेषणीय पैटर्न मानते हुए डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है -- कबीलाई मूल्य, पारिवारिक मूल्य, प्रकृत मूल्य, व्यक्तिगत मूल्य, भोगवादी मूल्य, नैतिक मूल्य, धार्मिक मूल्य और सौन्दर्यबोधात्मक मूल्य। डॉ. मेघ का विचार है कि सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य धारणाएँ भी परिवर्तित होती हैं, इसलिए मूल्य-विभाजन सामाजिक वर्गीय चेतना पर आधारित होता है ।[25]

1. ख. II पाश्चात्य दृष्टिकोण :

मूल्यों के वर्गीकरण में पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है । उन्होंने साध्य मूल्यों को स्थायी, उच्चतर तथा चिरंतन और साधनात्मक मूल्यों को एकांगी, निम्नतर और परिवर्तनशील माना है । अरबन ने स्थूल रूप से मूल्यों को आठ वर्गों में विभाजित किया है :

1. शारीरिक मूल्य 2. आर्थिक मूल्य 3. मनोरंजनात्मक मूल्य
4. सामाजिक मूल्य 5. चरित्रात्मक मूल्य 6. सौन्दर्यात्मक मूल्य
7. बौद्धिक मूल्य 8. धार्मिक एवं ईश्वर विषयक मूल्य[26]

अरबन की भाँति पाश्चात्य विद्वान जार्ज एडगिन प्यू ने शारीरिक आवश्यकताओं एवं मूल प्रवृत्तियों को दृष्टिगत रखते हुए मूल्य-विमर्श में मानव के निर्णय, व्यवहार और बौद्धिक विकास को आधार बनाया है । उनकी दृष्टि में सभी मूल्य समय, आवश्यकता और स्थिति के अनुसार महत्त्वपूर्ण हैं । उन्होंने मूल्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है :

1. स्वनिष्ठ मूल्य 2. सामाजिक मूल्य
3. बौद्धिक मूल्य[27]

डॉ. ऐवरेट ने आंतरिक मूल्यों के दो भेद मानते हुए उसे निम्नतर और उच्चतर दो भागों में श्रेणीबद्ध किया है :

(क) निम्नतर आंतरिक मूल्य :

1. मनोरंजन सम्बंधी (क्रीड़ा-आमोद आदि) 2. शारीरिक (स्वास्थ्य)
3. सामाजिक (साहचर्य, संघ, संस्था) 4. श्रम सम्बंधी (आर्थिक)

(ख) उच्चतर आंतरिक मूल्य :

1. बौद्धिक (ज्ञान, विवेक, सत्य आदि) 2. सौन्दर्यमूलक (कला)
3. चारित्रिक (भद्रता, अच्छाई) 4. धार्मिक (पुण्य)[28]

अंग्रेजी के धर्म दर्शन विश्वकोश में मूल्यों को छः श्रेणियों में विभक्त किया गया है :

1. सुखात्मक मूल्य 2. सौन्दर्यपरक मूल्य
3. उपयोगितामूलक मूल्य 4. नैतिक मूल्य
5. धार्मिक मूल्य 6. तर्कमूलक मूल्य[29]

कतिपय विद्वानों ने मूल्यों को शुभ तथा अशुभ भेद के रूप में भी स्वीकार किया है । इस विषय में परस्पर मत वैभिन्य है । प्लेटो तथा अरस्तू आदि विद्वान ज्ञान को ही स्वतः साध्य शुभ मूल्य मानते हैं । इसके विपरीत बैन्थम, मिल आदि

'सुख' और 'आनन्द' को ही शुभ मूल्य के रूप में स्वीकार करते हैं । जे. ड्यूई शुभ-अशुभ की धारणा को मानवीय इच्छा पर ही आधारित मानते हुए लिखते हैं-- ''कोई भी मूल्य 'अंतिम साध्य' नहीं है । शुभाशुभ अंततः मनुष्य की इच्छाओं पर ही निर्भर है । किसी भी वस्तु को शुभ अथवा अशुभ निर्धारित करना उसके परिणाम पर ही आधारित है और परिणाम का निर्धारण अनुभव द्वारा ही संभव है । अतः मूल्य परिणाम सापेक्ष, मानव सापेक्ष एवं समाज सापेक्ष है ।''[30]

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा मूल्यों के वर्गीकरण के अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मूल्यों को आनंद, कल्याण, भौतिक, लौकिक, सौंदर्यमूलक एवं आध्यात्मिक आदि रूपों में विभाजित न करके 'मानव-मूल्य' की समन्वित भावना के परिप्रेक्ष्य में ही देखना उचित है ।

1. ग मूल्य - विकास :

मानव-जीवन के अर्थ और महत्त्व की दृष्टि से 'मूल्य' सम्बंधी अनेक मत अस्तित्व में आए जिन्होंने दो प्रकार की विचारधाराओं में परिणति पाई। एक विचारधारा के अन्तर्गत् पौर्वात्य विद्वान आए जो जगत् को मिथ्या, क्षणभंगुर तथा त्याज्य समझकर पुरुषार्थ को ही 'मानव-मूल्य' के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं । दूसरी विचारधारा के अन्तर्गत् पाश्चात्य विद्वान आए जो जगत् को ही एकमात्र सत्य और योग्य समझते हैं । इस प्रकार इन दोनों विचारधाराओं के कारण दोनों की संस्कृतियों में भी अंतर आया । फलतः मूल्य-चिंतन भी भिन्न-भिन्न दिशाओं में गतिशील रहा ।

1. ग. । भारतीय परम्परा :

भारतीय संस्कृति वैचित्र्य एवं वैविध्यपूर्ण है, जिसकी अभिव्यक्ति मूल्य-भावना की दृष्टि से अनेक रूपा है । भारतीय चिंतन के अन्तर्गत् जगत् को मिथ्या, क्षणभंगुर तथा त्याज्य मानते हुए भी पाश्चात्य विचारधारा जिसमें जगत् को एकमात्र सत्य और योग्य माना गया है, सर्वथा विरोध नहीं किया, वरन् उससे भी कुछ विचार लेकर दोनों के बीच समन्वय स्थापित करते हुए आगे बढ़ा । इसलिए भारतीय चिंतन सांसारिक भोग से सम्बंधित भौतिकवादी तथा ब्रह्म को काम्य मानकर आध्यात्मवादी दृष्टि दोनों को ही समन्वित रूप में स्वीकार करता है । भारतीय परम्परा में प्राचीन काल से ही मूल्य के रूप में आदर्श नर-नारियों की कल्पना एवं जीवन ध्येयों की एकरूपता का समावेश हुआ है । 'मूल्य' के अन्तर्गत् 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की अवधारणा भी अवलम्बित है। पुरुषार्थ को ही 'जीवन-मूल्य' के रूप में मान्यता प्रदान करके उसका विभाजन चार वर्गों में किया है-- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इस वर्गीकरण में भौतिक और आध्यात्मिक अथवा श्रेयस और प्रेयस दोनों ही प्रकार के मूल्यों को समाहित करने का प्रयास किया गया है । 'पुरुषार्थ' का मूल अर्थ उन प्रयत्नों से है जिन्हें जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया जाता है । यहाँ 'अर्थ' और 'काम' का सम्बंध भौतिक मूल्यों से है और धर्म को आध्यात्मिक मूल्यों के अन्तर्गत् मानकर उसे मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। भारतीय चिंतन में 'मोक्ष' ही जीवन का परम साध्य रहा है ।

भारतीय चिंतन के अनुसार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चार तत्वों के समन्वय से ही मानव शरीर बना है । शारीरिक विकास एवं जीवनयापन हेतु 'अर्थ' की, मानसिक विकास हेतु 'काम' की, बौद्धिक विकास हेतु 'धर्म' की तथा आत्मिक तृप्ति हेतु 'मोक्ष' की आवश्यकता होती है । इन चारों को ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया

है । इन चार पुरुषार्थ में ही समग्र मानवीय जीवन समाहित है । भारतीय जीवन में 'धर्म' एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है । यह एक नियामक मूल्य है, जिसके अन्तर्गत् अर्थ और काम का सम्पादन होता है । डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में धर्म परम मूल्यों में विश्वास और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है ।[31] द्वितीय पुरुषार्थ 'अर्थ' है । भारतीय चिंतन में 'अर्थ' की अवधारणा को साधनात्मक मूल्यों के अन्तर्गत् रखा गया है जो साध्यात्मक मूल्यों की प्राप्ति में सहायक है। डॉ. मोहिनी शर्मा के अनुसार -- ''अर्थ से आशय गृहस्थी चलाने, परिवार के बसाने और धार्मिक कार्यों को पूर्ण करने हेतु आवश्यक भौतिक वस्तुओं से है ।''[32] इस प्रकार जीवन-यापन हेतु आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था 'अर्थ' के अन्तर्गत आती है । तृतीय महत्त्वपूर्ण 'मूल्य' है-- काम । यह मानव की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा कामनाओं का द्योतक है, किन्तु आज यह अपने संकुचित अर्थ में केवल इन्द्रिय सुख व यौन तृप्ति का वाचक बन गया है। यह शरीर में अवस्थित रहता है । अतः आहारवत् है । धर्म और अर्थ का फल भूत भी यही है :

शरीर स्थिति हेतुत्वादाहार सधर्मोणोहि कामः ।

फलभूताश्च धर्मार्थयो ।[33]

अर्थ के समान काम भी धर्म के साथ संयोजन की अपेक्षा रखता है, तभी वह अपना महत्त्व बनाये रख सकता है । धर्म, अर्थ और काम तीनों मूल्य साधनात्मक हैं जिनका साध्य है चतुर्थ मूल्य 'मोक्ष' । मोक्ष विषयक धारणा पारलौकिक संसार की कल्पना प्रस्तुत करती है । धर्म के समान मोक्ष भी भौतिक अज्ञान की स्थितियों से मुक्ति का परिचायक है जिसकी प्राप्ति होने पर व्यक्ति सुख-दुःख से छूटकर अनन्त शान्ति प्राप्त करता है । कठोपनिषद् में कहा गया है कि -- स्वर्गलोक मृत्युलोक के दोषों, दुखों एवं

भयादि से सर्वथा रहित है :

''स्वर्गे-लोके न भयं किंचनास्तिः न चत्वं न जरया विभेति ।''[34]

संस्कृत-साहित्य में भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष के साहचर्य में मूल्यों का भी उत्कर्ष हुआ, जो मानव की साधना, अंतर्दृष्टि एवं जीवन विवेक की देन है । उन्नीसवीं सदी तक ये मूल्य प्रायः आध्यात्मिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित रहे । यह आध्यात्मिकता प्रवृत्तियों से समन्वित भक्ति-भावना द्वारा पोषित रही है । संतों एवं भक्तों ने 'सर्वभूत हिते रताः' का आदर्श अपनाकर सत्प्रवृत्तियों को जागृत किया । उनकी दृष्टि में मानव की मूल्यात्मक स्थिति संत हृदयवत् थी, जो परदुःख से सहज ही द्रवित हो जाता है। वस्तुतः परोपकार में ही मानव का सर्वोच्च मूल्य सन्निहित है। वही उसका अतुलनीय धर्म है:

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।

पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।[35]

पूर्व मध्यकाल में 'भक्ति' को ही मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया और भक्ति के आलोक में अनेक अन्य मूल्यों की स्थापना की गई जो भारतीय समाज एवं सम्पूर्ण क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए । काव्य के क्षेत्र में मूल्यों की स्थापना करते हुए तुलसीदास लोक को यह संदेश देते हैं -- कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही उत्तम है जो गंगा की तरह सबका हित करने वाली हो :

'कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कह हित होई ।'[36]

यद्यपि तुलसीदास ने यह भी लिखा है : 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा ।'[37] तथापि उनकी 'स्व' सुख की भावना में लोक हित की भावना सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । जिसने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में आदर्श मूल्यों की स्थापना की जो भारतीय समाज के मार्गदर्शक हैं ।

उत्तर मध्यकाल में मूल्यों का विघटन तो हुआ लेकिन कुछ कवियों ने इनकी जीवन्तता बनाये रखी । अधिकतर कवियों ने 'श्रृंगार' और सौन्दर्य में ही मूल्यों को प्रतिष्ठित किया ।

मूल्यों का सर्वाधिक विकास उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण काल के दौरान हुआ । इसी काल में समाज-सुधार की भावना का विकास हुआ । इस सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से राष्ट्र-प्रेम एवं स्वातंत्र्य मूल्यों की प्रतिष्ठापना को बल मिला । ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना सभा, रामकृष्ण मिशन आदि सुधारवादी समाजों ने पुरा मूल्यों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत कर उसके स्वीकरण की प्रेरणा को बल दिया। स्वतंत्रता आंदोलन ने मूल्यों पर गहरा प्रभाव तो डाला, परन्तु ये निष्प्रभावी रहे क्योंकि तब तक मानव मूल्यों के प्रति सचेत हो गया था । आधुनिक काल में आध्यात्मिक एवं मानवीय मूल्यों में समन्वय किया गया । आधुनिक विचारकों में बाल गंगाधर तिलक, रवीन्द्र नाथ टैगोर और महात्मा गाँधी आदि ने निष्काम सेवा और कर्मण्यता को ही मूल्य के रूप में जीवन में स्थापित करने का प्रयास किया । मानव को मूल्यों की पहचान कराने में आज कितनी ही धार्मिक संस्थाएँ अनवरत प्रयत्नशील हैं । इस प्रकार भारतीय चिंतन में मूल्यों के विकास के रूप में साधनात्मक मूल्य एवं साध्यात्मक मूल्य को प्रतिष्ठित किया गया है ।

1. ग. II पाश्चात्य परम्परा :

पाश्चात्य चिंतन में भौतिकवादी दृष्टि की प्रधानता रही । वहाँ अट्ठारहवीं शताब्दी में आकर 'मूल्य' विषयक स्वतंत्र विमर्श प्रारम्भ हुआ, किन्तु पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों में कला सम्बंधी चर्चा के अन्तर्गत् इस शब्द की अवधारणा निरंतर विद्यमान रही

है । हिन्दी विश्वकोश के अनुसार -- ''पश्चिमी दर्शन में प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त के साथ मूल्य-मीमांसा का उदय हुआ और अरस्तू के आचार-शास्त्र, राजनीति और तत्त्व-विज्ञान में उसका विकास हुआ ।''[38] 'मूल्य' विषयक पाश्चात्य चिंतन पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि प्लेटो से पूर्व काव्य को दैवी प्रेरणा माना जाता था । तब वही काव्य का शैक्षिक, नैतिक और उपदेशपरक मूल्य ही प्रमुख था । प्लेटो की दृष्टि में भी काव्य का प्रयोजन जीवन के उदात्त तत्त्वों को ही चित्रित करना था । जिनमें मानव-जीवन के कल्याण और आनंद का भाव निहित था । अतः उनकी दृष्टि में काव्य का मूल्य धार्मिक एवं नैतिक ही था । प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने अपने अनुकरण-सिद्धान्त में कला में व्याप्त वस्तु सत्यता और वस्तु में सर्जक की अनुभूति तथा कल्पना को महत्त्व देकर साहित्य को जीवन से सम्बद्ध किया। अरस्तू के सत्य के वास्तविक अर्थ के विषय में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है -- ''काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन है ।''[39] इस प्रकार अरस्तू साहित्य को जीवन के यथार्थ रूप में स्वीकार करते हैं । पाश्चात्य चिंतन में प्राचीन तथा आधुनिक विचारकों के जीवन-दर्शन में पर्याप्त अन्तर रहा है । ''मूल्यों के संदर्भ में वहाँ मूलतः भोगवादी दर्शन अथवा वर्तमान को ही सत्य मानकर चलने वाली विशेषता के बावजूद प्राचीन ईसाई दार्शनिकों के द्वारा अरस्तू के उच्चतम आदर्श का अर्थ ईश्वर के तादात्म्य की इच्छा से सिद्ध करने के प्रयत्न में जीवन के परे किसी अन्य सत्य की खोज का आग्रह भी देखा जा सकता है । कांट और हीगल ने सौन्दर्य, कला, आचार, धर्म आदि को सर्वोपरि मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठापित किया । स्टोइक और एपीक्यूरियन विचारकों ने भी जीवन के उच्चादर्शों को ही मूल्य माना है ।''[40]

103830

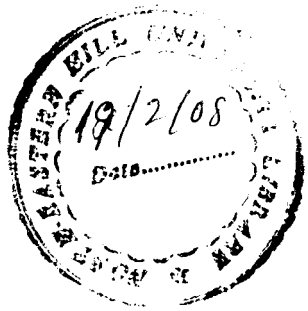

पाश्चात्य चिंतन वस्तुवादिता को ग्रहण करके व्यवहारिकता की ओर जाने लगा जिससे दिशा वैभिन्न की स्थिति उत्पन्न हुई और 'मूल्य' विषयक पाश्चात्य तथा भारतीय चिंतन में अन्तर आया, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ मूल्य-मीमांसा विषयक तीन विचारधाराएँ अस्तित्व में आयीं । प्रथम विचारधारा के विचारकों में - स्पिनोजा, लोट्ज तथा डी. बी. आते हैं । ये फलवादी विचारक हैं । इन्होंने मूल्य को व्यक्तिगत माना है । इनके अनुसार -- किसी इच्छा की तृप्ति करने वाले आधार को ही मूल्य कहते हैं । ये मानते हैं कि सत्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, उसका निर्माण तो व्यक्ति की अपनी रुचि, अरुचि, मानसिक स्थिति और उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होता है । लैयर्ड तथा मूर दूसरी विचारधारा के पोषक हैं । इन्होंने मूल्य को विषयगत माना है । तीसरी विचारधारा की स्थापना दार्शनिक एलेक्जेण्डर ने की है । इन्होंने जो व्यक्ति मूल्य का अनुभव करता है और जिस वस्तु के मूल्य का अनुभव किया जाता है उन दोनों के सम्बंध में मूल्य के अस्तित्व को स्वीकार किया है । पाश्चात्य काव्य के क्षेत्र में प्राचीन और आधुनिक दो वर्ग अस्तित्व में आए । एक वर्ग उन विद्वानों का है जिन्होंने कला का लक्ष्य मात्र कला के लिए स्वीकार करते हुए 'आनंद' तत्त्व को ही काव्य का प्रयोजन मानकर प्रमुखता दी । इन प्राचीन वर्गीय विचारकों में एडगर एलन पो, स्वैमबर्न, वाल्टर पेंटर, आस्कर बाइल्ड आदि आते हैं । उनका मत है-- कला स्वयं की ही अभिव्यक्ति है इसका अपना स्वतन्त्र जगत् है ।[41] ब्रेडले भी कला को स्वतन्त्र, पूर्ण और निरपेक्ष मानते हुए कहते हैं कि -- 'कला का वास्तविक जगत् से कोई सम्बंध नहीं है ।[42] इस प्रकार इस वर्ग के विद्वान कला का प्रयोजन सामाजिक, नैतिक आदि मूल्यों की स्थापना नहीं मानते इनका मानना है कि इसका वास्तविक जगत् से सम्बंध ही नहीं है । दूसरा वर्ग आधुनिक विद्वानों का है जो कला का प्रयोजन जीवन की अभिव्यक्ति मानते

हैं । इस वर्ग में मैथ्यू आर्नोल्ड, टालस्टाय, रस्किन, लेनिन, मार्क्स आदि आते हैं । ये कला का मूल लोक-हित को मानते हुए इसका प्रयोजन आचरणात्मक मानते हैं । टालस्टाय ने कला को मनोविनोद का साधन न मानकर मानव-जीवन का आवश्यक अनुबंध माना है । इस प्रकार वह मानव मानव के बीच सम्पर्क का साधन है । प्रत्येक कलाकृति प्रमाता का न केवल कलाकार के साथ वरन् उन सभी व्यक्तियों के साथ जो उसी समय उससे पहले या बाद में, एक ही प्रकार के कलात्मक प्रभाव को ग्रहण करते हैं, रागात्मक सम्बंध स्थापित करती है ।[43] पाश्चात्य चिंतन में धर्म, आचार, सौन्दर्य, सुखवादिता, नैतिकता, उपदेशात्मकता आदि मूल्यों की विविध व्याख्याएँ हुई हैं । कला के प्रयोजन विषयक किसी ने उसे जीवन की आलोचना कहा तो किसी ने जीवन की अभिव्यक्ति । किसी ने सौन्दर्य माना तो किसी ने नीति और सदाचार माना । विभिन्न तत्त्वों के संगठित रूप को ही कला की संज्ञा देते हुए जानसन कहते हैं कि -- ''काव्य-सत्य और सौन्दर्य को संगठित करने का नाम कला है, जहाँ कल्पना तर्क की सहायक है।''[44]

इस प्रकार कला का प्रयोजन चाहे नीति, सदाचार, कल्पना या सौन्दर्य मानें अथवा 'कला कला के लिए', 'कला जीवन के लिए' ये सभी बातें सिद्धांत रूप में परस्पर सम्बद्ध हैं । इन सभी का लक्ष्य आनन्द और जन हित ही है । अतः कहीं न कहीं इन सबका सम्बंध मूल्य से ही है ।

1. घ मानव का लक्षण एवं स्वरूप :

मानव प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है । जिसकी प्रतिष्ठा एवं स्वतंत्रता की महत्ता सभी धर्मों, विश्वासों तथा विचारधाराओं में स्वीकृत है । सुकरात की दृष्टि में मनुष्य कोई ब्रह्माण्डीय प्रयोग नहीं है । वह कर्मशील होने के कारण समस्त प्रकृति के

विधान का उत्कृष्ट आयाम है । वही प्रकृति के रहस्यों को समझ सकता है तथा इस विधान के साथ सायास सामंजस्य स्थापित करते हुए वह अपने जीवन एवं क्रिया-कलापों को निश्चित दिशा प्रदान कर सकता है ।[45] 'मनुस्मृति' में लिखा है : भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठा, प्राणिनां बुद्धि जीविनः । बुद्धिमस्तु नराः श्रेष्ठाः ।[46] चराचर जगत् में मानव ही सर्वश्रेष्ठ है । इस श्रेष्ठत्व का कारण है कि मनुष्य ज्ञान और बुद्धि के द्वारा मनन करके स्वकर्म निर्धारित करता है -- मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः ।[47]

मानव की समस्त चेष्टाएँ ज्ञान और बुद्धि द्वारा संचालित होती हैं । वह पहले तोलता है, फिर बोलता है । पहले सोचता है, फिर कदम उठाता है । पहले मनन करता है, तब कर्म-प्रवृत्त होता है । आपाततः नियंत्रित और मर्यादित जीवन बिताने वाला प्राणी ही 'मानव' शब्द वाच्य है ।[48]

वैदिक मानव का स्वरूप कर्मठ, समन्वयशील और अनुशासनप्रिय था । वह लोभ, छल, कपट, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि को नैतिक दृष्टि से हेय समझता था। सत्य, दान, दया, संयम ही नैतिक आदर्श था । 'यद् भद्रंतन्न आसुव'[49] कहकर मानव अपनी भद्रता का परिचय देता था। 'यजुर्वेद' में मानव की श्रेष्ठता को इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि -- हम सभी को मित्र मानें और मित्रता पूर्ण दृष्टि से सबको देखें :

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।[50]

उपनिषदों में मानव के कर्म-पक्ष पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि कर्मशील मनुष्य ब्रह्म ज्ञानियों से श्रेष्ठ माना जाता है । इसलिए ईशोपनिषद् में कहा गया

है कि मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए ।[51]

वेदान्त दर्शन के अनुसार -- मनुष्य ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह कर्मभूमि पृथ्वी ही श्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसे पूर्णत्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सम्भावना है । देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ेगा । यह मानव-जीवन एक महान केन्द्र, अद्‌भुत स्थिति और अनुपम अवसर है।[52] आदि काव्य 'रामायण' में भी मानव-चरित्र का सुन्दर वर्णन है । राम कथा के पात्र पग-पग पर अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के निमित्त तत्पर रहते हैं । वशिष्ठ सदृश ज्ञानी और नीतिवान गुरु, दशरथ सदृश कुशल राजा, राम सदृश मर्यादापुरुषोत्तम, सीता सदृश आदर्श पत्नी आदि अनेक पात्र मानवीय धरातल पर जीवन के विभिन्न आयामों को सांसारिक रंगमंच पर अभिनीत करते हैं । महाभारतकार की दृष्टि में तो मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है -- नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ।[53] महाभारत तो मानव-चरित्र का महाकाव्य ही है ।

1. ङ मानव-मूल्य और मानव :

मूल्यों का मानव-जीवन में विशिष्ट स्थान है । उनका कार्य व्यक्तियों को सामाजिक जीवन के लिए आदर्श प्रस्तुत करना है । वस्तुतः मूल्य एक मानक है, जिसके आधार पर व्यक्ति समाजिक व्यवहार की श्रेष्ठता का अनुमान लगाता है । किसी वस्तु, व्यक्ति, विचार व संस्था से किसी व्यक्ति का कैसा सम्बंध है यह उसके मानव मूल्यों पर आधृत है । संभवतः इसलिए डॉ. मैत्र लिखते हैं : ''हमारी परंपरा है मूल्य-केंद्रित होना, न कि अस्तित्व-केन्द्रित होना, जैसी कि पश्चिम की परंपरा ।''[54] मानवीय व्यक्तित्व में मूल्य-निर्धारक कतिपय गुण होते हैं । श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में सत्, रज और तम नामक गुण जन्मजात विद्यमान रहते हैं, जिनके आधार पर उसे

सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी कहा जाता है :

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।[55]

ये तीनों गुण मानव-प्रवृत्ति के अविभाज्य अंग हैं और इनका निजी सामाजिक महत्त्व है । भारतीय कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मानव कर्मानुरूप फल भोगता है । यह विश्वास जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है ।

मानव और मानव-मूल्य का आधार निर्धारित करते हुए मूल्य परिभाषा के विभिन्न पक्षों पर दृष्टि निक्षेप आवश्यक हो जाती है । कोई परिभाषा तब सार्थक मानी जाती है, जब वह विषय के आधार को अपने अन्दर समाहित करे । मूल्य को परिभाषित करते हुए गुणों की अवधारणा केन्द्र में रही है । अवधारणा सदैव ज्ञान, विवेक एवं आस्था पर अवलम्बित होती है । जीवन-रत्न का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण जीवन पाशविक धरातल से ऊपर नहीं उठ पाता। ज्ञान के दो रूप माने गए हैं -- सद्ज्ञान तथा असद्ज्ञान । इन दोनों का निर्णय विवेक द्वारा होता है । विवेक द्वारा ही मानव जैवी आवश्यकताओं की पूर्ति के आकर्षण को लाँघकर आत्म-विकास एवं लोक मंगल की ओर प्रेरित होता है । आकांक्षा हमेशा प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिए मानव को बाध्य करती है, किन्तु विवेकी मानव इन प्रवृत्तियों की तुष्टि को अनिवार्य नहीं समझता क्योंकि विवेकी मानव आदर्श कर्मों की राह देखकर गतिमान होता है । आस्था भी सामान्यतः मानव-मूल्य है । बिना आस्था के सम्पूर्ण दर्शन तर्क-जाल जैसा लगता है । आस्था ज्ञान के आलोक में ही श्रेयस्कर होती है । मनोविज्ञान ने व्यक्ति की आस्था को झकझोर कर उसके जीवन को नवीन व्याख्या दी है। अतः मूल्य जहाँ आस्था पर टिके हों वहाँ आस्था को भी मूल्यों का सम्बल ग्रहण करना चाहिए ।

मानव-मूल्य का प्रबल पोषक है - गुण । गुण रहित वस्तु अपना मूल्य खो देती है । गुण एवं उपयोगिता का पारस्परिक सम्बंध रहता है । सूखा फूल अनुपयोगी होने से मूल्यहीन समझा जाता है । वहीं ताजा फूल उपयोगी एवं मूल्यवान होता है । गुणाधिक्य से उपादेयता में वृद्धि होने से वस्तु अधिक मूल्यवान बन जाती है । मूल्य वस्तु गुण की विशिष्टता पर आधारित होते हैं । हीरे का मूल्य उसकी विशिष्ट कांति से आँका जाता है । मनोविज्ञान के अनुसार कोई वस्तु कितनी भी उपयोगी क्यों न हो सहज सुलभ होने से अपना मान खो देती है । दुर्लभ होने से मूल्यवान भासित होने लगती है । दुर्लभता से प्राप्त वस्तु मूल्य-वृद्धि में बड़ी सहायक सिद्ध होती है । जब आवश्यकता एवं दुर्लभ प्राप्ति का संयोग एक साथ घटित हो जाता है तो वस्तु परम मूल्यवान बन जाती है।

मानव मूल्यों का सर्वाधिक सशक्त पहलू मानव के चारित्रिक गुण होते हैं । विवेकपूर्ण होने से मानव शुभ गुणों को धारण कर जब सदाचरण पर आरूढ़ होता है तो तेजस्विता, यश, कीर्ति, आत्म-विकास आदि गुणों को प्राप्त करता है। झूठ, छल, नृशंसता, दम्भ, लोभ, अहंकार, बेईमानी एवं कामुकता आदि अवगुण व्यक्ति के जीवन को पतन की ओर ले जाते हैं । अनैतिक आचरण व्यक्ति को घृणा का पात्र बनाता है । शील, मर्यादा एवं आदर्श गुणों से पूर्ण मानव पूज्य बनता है । चारित्रिक गुण संस्कार एवं संसर्ग के प्रभाव से संवर्द्धित होते हैं । धर्म और आस्था इसका नियमन करती है । करुणा, दया, उदारता, सहनशीलता, सहृदयता, परोपकारिता, पावनता, कर्मण्यता, ओजस्विता, सौम्यता तथा वीरता आदि चारित्रिक गुण मानव के कल्याण में सहायक होते हैं । इन सत्य गुणों के प्रभाव से ही मन शुभ कर्मों की ओर प्रेरित होता है । इन मानवीय गुणों से पूर्ण होने पर ही मानव सच्चरित्र मानवों की सूची में शामिल होता है । ये

मानव-मूल्य परिवार, समाज, रीति-नीति, धर्म उत्थान आदि में भी सहयोगी बनते हैं । मानव ने अपने विकास के काल-क्रम में अनेक अनुभव और प्रयोग करते हुए स्व-कल्याण एवं पर-कल्याण हेतु अपनी क्षमता एवं विवेक का उपयोग सर्वश्रेष्ठ मानव-मूल्यों को खोजने के लिए किया है । उसमें जन्मजात रूप से भावात्मक और रागात्मक वृत्तियाँ हैं जो उसे कहीं पर जोड़ती और कहीं पर तोड़ती हैं । वह निरन्तर अपना विस्तार और अपने अस्तित्व की रक्षा करता है ।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में मानव की विचार-पद्धति एवं जीवन-पद्धति में अनेक परिवर्तन हुए । इस युग में 'मानवतावाद' एक स्पष्ट दृष्टिकोण लेकर प्रकट हुआ। 'मानवतावाद' मानवीयता का वह जागरूक एवं व्यवस्थित रूप है जो हमारे अन्तःकरण तथा बाह्य गुणों से सामंजस्य स्थापित कर हमारी आत्म-स्फूर्ति में सहायक होता है। हमारी सहानुभूति की भावना जब पक्षपातपूर्ण रहती है तथा वह सर्वजन सुखाय एवं सर्वजन हिताय की विचारधारा को ठुकरा देती है तब मानवतावाद इसी पक्षपातपूर्ण भावना को सूत्रित करने में सहायक बनता है । मानवता का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है - सभी प्राणियों में समानता की भावना । मानवतावाद अन्तः विश्वास, श्रद्धा, आदर एवं नैतिक-मूल्य युक्त भावों द्वारा प्राणीमात्र के कल्याण सम्बंधी सिद्धान्तों की व्याख्या और सार्वभौमिक जीवन-दर्शन की स्थापना करने वाला विश्व-दर्शन है, जिसके मूल में विश्वात्मा की चेतना का उदात्त भाव निहित है ।[56] ''मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति है, इकाई है, उसके अपने कुछ मूल्य होते हैं, परन्तु व्यक्ति एक महत्तर मानव-समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रांत, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है, अतः उसके विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है । इन सब विविध मूल्यों के बाद भी एक बड़ा मूल्य बचा रहता है, जो एक प्रकार से

इन सबका सार है और वह है -- मानव-मूल्य । अंततः वे व्यक्ति-मूल्य ही प्रधान हैं, जो समाज-मूल्य के विरोधी न होकर उसके पोषक हों, वे ही सच्चे मानवीय-मूल्य हैं।''[57] मानव अपने दैनिक व्यवहार में स्वार्थ के वशीभूत होकर पालतू तथा अन्य जीवों के प्राण हरता है, हिंसा का यह भाव मानव का नैतिक पतन कराता है । मानवतावादी नैतिकता तभी पूर्ण होती है, जब सभी मानव निरीह प्राणियों के प्रति दया भाव रखें । सर्व मंगलाय की भावना तभी सार्थक होती है, जब मानव समस्त प्राणियों के जीवन के प्रति आदर एवं प्रेम-भाव रखता है ।

मानव-मूल्यों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानव को विश्व बन्धुत्व की ओर प्रवृत्त करना है । क्षुद्र स्वार्थों, दुर्भावनाओं, कुप्रवृत्तियों से मानव को मुक्त करना ही लोक-संग्रह का चरमोद्देश्य है । वैदिक काल में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की कामना करते हुए सर्व समभाव प्रार्थना की जाती थी । ऐसे ही उदात्त विचार मानव को मानव बनाते हैं ।

1. च वर्तमान मानव की मूल्यात्मक स्थिति :

वर्तमान युग में विश्व के हर मानव मात्र के हृदय में कुछ भ्रान्त विचारधाराओं ने घर कर लिया है, जिनसे समय-समय पर सामूहिक हत्याएँ, लूटपाट और मानव द्वारा मानव का शोषण किया जाता रहा है और किया जा रहा है । आज के इस वैज्ञानिक युग में भी जब इन भ्रान्तियों का जुनून मानव पर हावी होता है तो बड़े से बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक और समाज सुधारक भी उसी बाढ़ में बहते हुए प्रतीत होते हैं । प्रश्न उठता है कि आज मानव कितना मर्यादित और नियंत्रित है ? उसकी मूल्यात्मक स्थिति क्या है ? आज हमारा राष्ट्रीय, सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन मूल्यहीन-सा प्रतीत होता है । नागरिकों में प्राप्त नैतिक अवसरवादिता के मूल में भी इसी मूल्य-शून्यता का आधिपत्य है। आधुनिक युग की परिवर्तनशील प्रक्रिया के असामान्य संतुलन के कारण चिरंतन मानवीय मूल्य भी संदेहास्पद हो गए हैं ।

अनादि काल से चराचर सृष्टि का नियंता अलौकिक सत्ता के रूप में मान्य रहा है । मानव की एकमात्र सार्थकता उस सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा में निहित थी ।[58] कालांतर में यही अलौकिक सत्ता महाविष्णु और प्रभविष्णु के रूप में अभिहित हुई । अवतारवादी धारणा ने इसी प्रभविष्णु को 'पुरुषोत्तम' 'योगीराज' का रूप दिया । भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में मानव की मूल्यात्मक स्थिति परिलक्ष्य है, किन्तु डार्विन, मार्क्स, फ्रायड, युंग, एडलर आदि की वैचारिक क्रान्तियों ने इस परंपरागत विश्वास को विच्छिन्न कर चिन्तन की एक नई दिशा को जन्म दिया । नीत्से द्वारा प्रतिपादित विचारधारा के अन्तर्गत् मानवीय गौरव की प्रतिष्ठापक अंतरात्मा का कोई स्थान नहीं रहा । उनकी दृष्टि में मानवीय मूल्यों की निर्धारक कसौटी आज का मानवीय यथार्थ नहीं 'महामानव' या 'सुपरमैन' है । यह आध्यात्मिकता का लौकिक रूप है, ईश्वर का मानवीकरण है । उसकी लोकोत्तर स्थिति का अस्वीकरण है । धीरे-धीरे यह स्थिति भी बदली, क्योंकि बेकारी, बहुप्रजनन, गरीबी आदि समस्याओं के कारण समाज में अनेक स्वार्थ साधक विघटनकारी शक्तियाँ पनपने लगी हैं जो परंपरित मूल्यों के मूल्योच्छेदन में रत हैं । फलतः आज के मानव की स्थिति संकटापन्न, आत्म-चेतना कुंठित एवं वातावरण भयावह बन गया है । मनुष्य की इस संकटापन्न स्थिति ने 'महामानव' को 'लघुमानव' में कल्पित किया, जो संकल्प-विकल्प, आस्था-अनास्था की विवशता से गुजरता हुआ भी अत्यन्त सतर्क है । वह स्व-अस्तित्व के प्रति पर्याप्त जागरूक है । लेकिन इस लघुमानव के समक्ष भी प्रश्न ही प्रश्न हैं, उत्तर नहीं, समस्याएँ हैं, समाधान नहीं । फलतः जीवन जटिलतर होता जा रहा है । लगता है चारों ओर अवसाद एवं विषाद है, अनास्था एवं निराशा है, अकुलाहट एवं छटपटाहट है, आक्रोश एवं खीज है । एक ओर परिवर्तनशील मानव-मूल्यों के संदर्भों में पुरामूल्यों का अस्वीकरण किया

जा रहा है तो दूसरी ओर वर्तमान भौतिकता एवं लौकिकता प्रधान युग में युगोचित नव्य मूल्यों का न तो अन्वेषण किया जा सका है और नहीं वैसा कोई आदर्श है। ऐसी स्थिति में अज्ञेय का विचार एक सीमा तक सटीक प्रतीत होता है : ''मानव-मूल्यों का उद्‌गम 'साधारण मानव' को मानना ठीक है ।''[59] अज्ञेय के इस 'साधारण मानव' की पारिभाषिक संज्ञा 'सहज मानव' है । सहज मानव में जीवन की चेतना प्रकृत रूप में क्रियाशील होती है। समाज में सहजता का आग्रह सर्वत्र उपलभ्य है। साहित्य की प्रत्येक विधा में सहज मानव की झलक मिलती है - सो भी सहज शैली में ।

आज समाज में सर्वत्र संघर्ष परिव्याप्त है । मान्यताएँ बदल रही हैं । धारणाएँ खंडित हो रहीं हैं । मानदंडों में परस्पर टकराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी है । भौतिक एवं सांस्कृतिक जगत् में तनाव आने लगा है । आस्था और अनास्था के मध्य मानव-मूल्य डाँवा डोल होने लगे हैं, उनमें विघटन होने लगा है। बाहर से शांत एवं व्यवस्थित दिखने वाले मानव के भीतर बेचैनी, तनाव, अनिश्चय, कुंठा, संत्रास, क्षोभ आदि का ज्वालामुखी धधक रहा है । मानवीय मूल्यों में विघटन को स्वीकार करते हुए डॉ. धर्मवीर भारती का स्पष्ट विचार है कि -- ''संपूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी, वे झूठे पड़ गए हैं। परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है ।''[60] इस मूल्यात्मक विघटन को लक्षित करके डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है -- ''आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप आधुनिक युग में जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है, उसको अन्तर्मुखी चिन्तकों ने अस्तित्ववाद और बहिर्मुखी विचारकों ने मानवतावाद कहा है ।''[61]

फलतः मानव की वर्तमान स्थिति अत्यन्त संघर्षशील है । आज किसी भी वर्ग

का मनुष्य संतुष्ट अथवा सुखी नहीं है। वैज्ञानिक भौतिकवाद से उद्‌भूत अहमन्यता से उत्तेजित आज का मानव अनास्था के उस शुष्क क्षेत्र में भटकता-सा प्रतीत होता है, जहाँ मानव-जीवन की सहज संवेदनाएँ और उदात्त भावनाएँ उसके निमित्त अर्थहीन-सी हो गई हैं। इस भटकाव में बौद्धिक वैभव के प्रति विश्वास का भी योगदान है। इसलिए व्यक्ति अमंगलकारी स्पर्द्धाओं में फँसकर विद्वेष एवं द्विविधा से उद्विग्न हो उठा है। आत्मीय संवेदनाओं के परिपूर्ण जीवन का उन्मुक्त क्षेत्र उसके लिए अवरूद्ध-सा हो गया है। यही कारण है कि आज के मनुष्य की स्थिति एकांतिकता, संकल्पहीनता, निराशा, भय, चिंता आदि अस्तित्ववादी धारणाओं में सन्निहित है, जिसके मूल में सामाजिक, राजनीतिक तथा औद्योगिक परिवेश की अनिश्चयात्मकता के सदृश आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति भी अनास्था है ।

इस प्रकार आज सम्पूर्ण विश्व नाना प्रकार की समस्याओं से संतप्त एवं ग्रस्त है । मानव ने वैज्ञानिक प्रगति कर पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि आदि पर अधिकार तो कर लिया तथा अपने हितार्थ विविध रूप से इनका दोहन भी कर रहा है, किन्तु सृष्टि का सबसे बुद्धिमान, शक्तिशाली एवं उद्यमशील प्राणी होने के बावजूद वह निरन्तर अशान्ति, चिन्ता, पीड़ा और पतन के गह्वर में गिरता जा रहा है । मानव-मानव के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है, जिसका परिणाम विविध प्रकार के संघर्षों के रूप में सामने आ रहा है । सामाजिक विषमता इतनी अधिक है कि एक ओर अपार संपत्ति है तो दूसरी ओर सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य दाने-दाने को मोहताज, भूखा, नंगा, बीमार, असहाय, दीन-हीन और उपेक्षित है । आज निर्धन, असहाय व्यक्ति ही दुखी है, ऐसी बात नहीं । आज का अधिक से अधिक धनवान, शिक्षित और सभ्य कहलाने वाला व्यक्ति भी

नाना प्रकार की चिन्ताओं और समस्याओं से जकड़ा हुआ है । प्रत्येक व्यक्ति अपना ही रोना रोता हुआ मिलेगा, चाहे कितना ही धनी-मानी हो । शायद ही कोई ऐसा घर होगा जहाँ पिता-पुत्र, भाई-भाई, माँ-बेटी, सास-बहू, नंद-भौजाई आदि के बीच टकराव न हो । प्रत्येक जाति, समाज, वर्ग, समुदाय के मध्य संघर्ष है । यह संघर्ष निरन्तर बढ़ रहा है । यही नहीं वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में राष्ट्रों में घातक से घातक एवं अधिक से अधिक मात्रा में अस्त्र-शस्त्र निर्माण की होड़ लगी है । युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं । ऐसी विषम परिस्थितियों में क्या मानव कभी सुख का अनुभव कर सकेगा ? शान्ति की श्वास ले सकेगा ? क्या मनुष्य-मनुष्य के मध्य निरन्तर बढ़ती जा रही खाई समाप्त हो सकेगी ? क्या मानव-मानव के रक्त का प्यासा न होकर परस्पर मित्रता एवं बंधुत्व स्थापित कर सकेगा ? क्या घोर निर्धनता और अज्ञानान्धकार से पीड़ित मानवता का उद्धार हो सकेगा ? उक्त प्रश्नों के सकारात्मक उत्तर मानव मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं ।

1. च. । वैयक्तिक मूल्य :

मानवीय व्यक्तित्व के सम्यक् और अपेक्षित विकास में वैयक्तिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये मूल्य मानव को एक इकाई मानकर निर्धारित किए जाते हैं क्योंकि विश्व में व्यक्ति ही प्रधान है, उसके अन्य रूपों अथवा सम्बंधों का प्रादुर्भाव तो तदनन्तर होता है । इसी आधार पर वैयक्तिक मूल्य मानव-जीवन के चरम लक्ष्य, चरम मूल्यों की आधार भूमि कहे जा सकते हैं । वैयक्तिक मूल्यों का निर्धारण प्रमुखतः मानव के अंतः परिवेश की देन है, जिसकी सीमाएँ उसके तन और मन तक प्रसरित हैं । सर्वप्रथम चेतना केवल व्यक्तिगत धरातल पर क्रियाशील रहती है, जिसके दो पक्ष होते हैं-- भौतिक और भावात्मक । भौतिक स्तर पर शारीरिक स्वच्छता एवं स्वस्थता को एक

मूल्य माना जाता है । महर्षि चरक ने शरीर को चेतना का अधिष्ठान माना है --

"तंत्र शरीर नामा चेतनाधिष्ठान पंच महाभूत विकार समुदायात्मकं समयोगणाहिं ।"[62]

शरीर संरक्षण के निमित्त तन शुद्धि आवश्यक है । इसके बिना समस्त क्रियाएँ निष्फल मानी गई हैं । शुद्धिकरण से केवल भौतिक शरीर ही स्वस्थ एवं पवित्र नहीं होता है, प्रत्युत मानसिक भावों का भी परिष्कार होता है ।

वैयक्तिक मूल्य के संदर्भ में मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण मानव के चरित्र पर निर्भर करता है । समाज में रहने के लिए मनुष्य के उच्च चरित्र की महत्ता आवश्यक होती है । चरित्रहीन व्यक्ति मूल्यहीन भी होता है । वैयक्तिक तौर से समाज में उसका निर्वाह एक जटिल समस्या है । मानवीय व्यक्तित्व का चारित्रिक मूल्यांकन उसके स्वाभाविक व्यवहार व आचरण के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि वे मूल्य क्या हैं, जिनसे किसी व्यक्ति के चरित्र का निर्णय किया जाए ? वे कौन से तत्त्व हैं, जो मानव के चरित्र को उच्च से उच्चतर स्थिति की ओर ले जाते हैं ? उत्तर रूपेण हम यही कह सकते हैं कि प्राचीन काल से ही श्रेय प्रधान (कर्म प्रधान) जीवन को श्रेष्ठ माना गया है । जिसमें सत्यता एवं सुंदरता का समावेश भी था । सत्य-पथ का अनुसरण करते हुए कल्याण-पथ का पथिक बनने का उपदेश नीति ग्रंथों में मिलता है ।[63] अतिथि-सत्कार, सेवा-धर्म, शील आदि सद्‌गुण सच्चरित्र की निशानी है । स्वस्थ एवं संतुलित सामाजिक जीवन में व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हेतु विधि निषेधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक आदि नियमों का पालन करने चाहिए । प्रत्येक मानव का अपने धर्माचरण (दया, परोपकार, अहिंसा, क्षमा, मृदुता, त्याग, सत्य, करुणा, प्रेम, सहयोग, बलिदान), व्यवहार (कुल, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, परिचित, अपरिचित), राजनीति (राजा तथा प्रजा का कर्त्तव्य) और अन्य सामान्य विषयों (धन, स्वास्थ्य, गुण, अवगुण, विद्या, कर्म) में चारित्रिक मूल्यों का ध्यान रखना चाहिए ।

1. च. II सामाजिक मूल्य :

व्यक्ति से ही समाज बनता है, इसलिए वैयक्तिक मूल्यों की परिणति सामाजिक मूल्यों में होती है । व्यक्तिवादी दृष्टि से यह व्यक्ति की महत्ता और वैयक्तिक मूल्यों का प्रसार है । मानव का सर्वप्रथम सम्बंध अपने परिवार से स्थापित होता है, तदनंतर जैसे-जैसे उसकी चेतना का विस्तार होता जाता है वैसे-वैसे उसका सम्बंध क्षेत्र बढ़ता जाता है । इससे उसकी मान्यताओं का भी विस्तार होता है । उनमें अनेक बदलाव आते हैं । मानव एक विवेकशील प्राणी है । अपने विवेक के आधार पर ही वह समाज में सबके साथ मिलजुल कर रहता है । समाज एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें मनुष्य अपनी सारी कार्य-प्रणालियों और मानव-व्यवहार के नियंत्रणों को परिमार्जित करता है । उसका स्वतंत्र समाज अपने परिवर्तन में निरंतरता तथा जटिलता का वाहक होता है इस समाज व्यवस्था में ही मानव के समस्त सम्बंधों की परिणति होती है । सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव आपसी भेद की स्थिति से भी गुजरता है । अपने परिवेश और परम्परा से जो व्यक्तित्व बनाता है, वह सामाजिक व्यक्तित्व से भिन्न होता है । उसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व कहीं होता है । सामाजिक व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं परिमार्जित करता है । अतः यह विभेद और समानता का धर्म वस्तु को एक दूसरे से सम्बंधित करता है तथा विभेद और समानता के आधार पर ही हम उन दोनों वस्तुओं के आपसी सम्बंध की जानकारी प्राप्त करते हैं । मानव समाज में रहता हुआ अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग लेता और देता है । मानव का स्वभाव, जीवन-चिन्तन, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन की अभिव्यक्ति उसकी सामाजिक अवस्थिति में ही सम्भव है । यही धर्म, कला, जीवन, चिन्तन आदि को समाज मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। समाज में इस प्रकार की मूल्यात्मकता की अपेक्षा रहती है, क्योंकि उसके बिना

समाज अपनी रचना में परम्परित नहीं हो सकता । मानव का जो सामाजिक अनुभव है वही संस्कृति है, जो व्यक्ति और समाज की प्राण शक्ति है । मूल्यों की रचना भी मानव ही करता है और मूल्यों की खोज में सतत् प्रयत्नशील रहता है । इस जगत् में पाये जाने वाले नैतिकता एवं सौन्दर्य से सम्बंधित गुणों का प्रस्तुतिकरण भी मानव ही करता है ।

पारिवारिक मूल्य :

परिवार समाज की इकाई है । परिवार की छत्रछाया में ही मानव का जीवन सर्वप्रथम संरक्षित होता है । यहीं उसका पालन-पोषण एवं सम्वर्धन होता है । यहीं से उसे जीवन की दिशा मिलती है । परिवार के मध्य ही शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय शक्तियों का संगम होता है, जो मानव को जीवन प्रारंभ करने में सहायता देती है ।[64] सामान्यतः पारिवारिक मूल्य व्यक्ति के पारिवारिक सम्बंध तक ही सीमित रहते हैं किन्तु इन मूल्यों का विषय है -- पारिवारिक सम्बंध कैसा हो, परिवार का कौन-सा रूप आदर्श है, उसके लिए क्या अपेक्षित है और क्या त्याज्य ? एक आदर्श परिवार की स्थापना करना मानव जीवन का एक विशिष्ट मूल्य है ।

नैतिक मूल्य :

नैतिक शब्द प्रमुखतः कर्म और शील का विश्लेषक है, जिसके संदर्भ में सत् और असत् का विवेचन नैतिकता का मुख्य प्रश्न है । यही जीवन-विवेक है । यह जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर बनाने में सहयोगी है । इसी कारण इसके अन्तर्गत् सुख और शुभ का समन्वय होता है । सद्‌गुणों के व्यापक प्रांगण में मूल्य सक्रिय रहते हैं । जीवन व्यवहार से सम्बंधित अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित के विवेकपूर्ण आदर्श भी नैतिकता की सीमा में आते हैं । पवित्रता, शुभ कर्त्तव्य, दायित्वबोध आदि सभी नैतिक सम्बंधों के ही

प्रतिफल हैं । मनुस्मृति में नैतिक नियमों का पालन ही सदाचरण माना गया है -- आचार परमो धर्मः।'[65] नैतिकता और मानव-मूल्य समाज के आधार स्तम्भ हैं । समाज को आदर्श रूप प्रदान करने में दोनों ही प्रमुख भूमिका का निर्वहण करते हैं । नैतिकता शुभ आचरण से सम्बद्ध है, किन्तु मानव-मूल्यों का धरातल बहुत विशद् एवं व्यापक है । नैतिकता अपने विशुद्ध रूप में व्यक्ति के सदाचार तथा कर्त्तव्यनिष्ठा का निरूपण करती है तथा उसे आदर्श पथ पर आरूढ़ करती है । नैतिक मूल्य की परिकल्पना सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत् अपने औचित्य को सिद्ध कर देती है । इसी दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता, शिष्टाचार, सदाचरण, कर्मण्यता, निष्कपटता, कृतज्ञता, सच्चाई तथा न्यायप्रियता आदि को नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत् समाहित किया गया है ।

सांस्कृतिक मूल्य :

संस्कृति में संस्कार का भाव समाहित है इस आधार पर इस शब्द का अर्थ है-- सुधारने या परिष्कृत करने वाले कर्म ।[66] अतः संस्कृति उन उदात्त विचारों एवं शुभ कर्मों की श्रृंखला को कहते हैं जो किसी देश अथवा जाति के जीवन को गति प्रदान करती है । संस्कृति का अन्तर्सम्बंध नागरिकों की चिन्तनधारा से रहता है । किसी देश के नागरिक अपना सामाजिक जीवन कैसे यापन करते हैं, उनके आचार-विचार कैसे हैं, उनका जीवन-दर्शन कैसा है, ये बातें संस्कृति के ढाँचे को रूप एवं आकार प्रदान करती हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में 'संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है ।'[67] डॉ. देवराज ने संस्कृति को मूल्य मानते हुए लिखा है -- "किसी व्यक्ति की संस्कृति उसके संपूर्ण बोध के आलोक में होती है ।"[68] यह बोध दो स्तरों पर प्रतिभाषित होता है -- आत्मिक जीवन रूपों का विस्तार एवं संवेदनाओं का उत्तरोत्तर परिष्कार । संवेदनाओं के

उत्तरोत्तर परिष्कार को सांस्कृतिक मूल्यों का बाह्य-पक्ष भी कहा जाता है । जैनेन्द्र की दृष्टि में भी सांस्कृतिक मूल्यों का विशिष्ट स्थान है । वे संस्कृति को भव्यता का आगार नहीं नींव मानते हैं, जिस पर भव्यता का महल निर्मित होता है।[69] महादेवी वर्मा ने सभ्यता और संस्कृति के संदर्भ में सांस्कृतिक मूल्यों का प्रश्न उठाया है । उनकी दृष्टि में संस्कृति सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन सामाजिकों के पारस्परिक व्यवहार में ही संभव है । यह कोई कृति नहीं, जीवन की एक शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान आदि की कड़ियाँ बनती हैं ।[70] वह मानव की सहज प्रवृत्ति के परिमार्जन से सम्बंध रखने के कारण केवल बाह्याचार में ही सीमित नहीं हो पाती ।[71]

किसी समाज के मूल्यों का निर्धारण उस समाज की संस्कृति के आधार पर होता है । भारतीय संस्कृति आदर्श नारी से शील, लज्जा, विनम्रता, पतिव्रता आदि मूल्यों की अपेक्षा रखती है । अतः संस्कृति और मानव-मूल्यों का निकट का पारस्परिक सम्बंध है। मूल्य संस्कृति को राह दिखाते हैं और संस्कृति अपने सामयिक मूल्यों को निरूपित करती है ।

1. च. III आध्यात्मिक मूल्य :

आध्यात्मिक मूल्य मानव की उदात्त प्रवृत्तियों का उत्कर्ष करते हैं । प्लेटो के अनुसार -- 'मनुष्य सदैव उच्चतर लक्ष्य की ओर उन्मुख रहा है । वह जितना आगे बढ़ा है, उसका चरम लक्ष्य व्यापक, गहन, विस्तृत, आंतरिक और सूक्ष्म हो गया है । वह भौतिक मूल्यों का अतिक्रमण करके आध्यात्मिक परम श्रेयस की ओर अग्रसर हुआ है।'[72] भारतीय संस्कृति में 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग प्रायः मोक्षान्वेषी जीवन के लिए होता है। इसी कारण यहाँ आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान, धर्म, समर्पण, निष्ठा, साधना, ज्ञान, कर्म, सहिष्णुता आदि का विस्तार आध्यात्मिक मूल्यों की सीमा में हुआ है। जब मानव की

चेतना का तीसरा पहलू वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों का अतिक्रमण कर किसी अव्यक्त शक्ति से सम्बंध स्थापित करने का प्रयास करता है, तब आध्यात्मिक मूल्यों की सृष्टि होती है । इन मूल्यों को ही साध्य मूल्य कहा जाता है । धर्म, ईश्वर-प्रेम, पाप-पुण्य, भगवद् भजन, सामंजस्य, विनय, सद्भाव, उदारता इसी धरातल पर उत्पन्न हुए मूल्य हैं जिन्हें सत्य, शिव और सुन्दर में समाहित किया गया है । इनसे भी ऊपर एक मूल्य और है -- आनन्द जो समस्त मूल्यों का सार है । यही चरम मूल्य भी है । वैयक्तिक और समाजिक समस्त मूल्यों का पर्यावसान इसी मूल्य में होता है ।

प्राचीन काल से ही ईश्वर को आध्यात्मिक सत्ता का केन्द्र माना गया है । वह विश्व कल्याणकारी एवं मनुष्यों में श्रेष्ठता का प्रतीक रहा है । उसकी परिकल्पना शाश्वत न होकर प्राकृतिक शक्ति (देव पुरुष, अवतार आदि) के रूप में परिवर्तित होती रही है। इसके साथ-साथ वह सत्य, सौन्दर्य और आनन्द का मूल्य-कोष भी माना जाता रहा है, इसलिए एक लम्बी अवधि तक ईश्वर को ही समस्त मूल्यों का सृष्टा समझा जाता रहा है इस संदर्भ में पं. गोपीनाथ ने लिखा है -- ''संसार में जो कुछ है अथवा होगा, सब ईश्वर में ही विलीन होता है ।''[73] अतः मानव ने ईश्वर और उसकी प्राप्ति को सर्वोच्च महत्त्व दिया है । उसे प्राप्त कर अखण्डानन्द में लीन रहना ही मानव का चरम लक्ष्य है । चरम लक्ष्य की प्राप्ति आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा ही सम्भव है । कल्याणकारी मूल्यों का मानव-जीवन में विशिष्ट स्थान है । ये ही वे मूल्य हैं जो आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर मानव को उच्चादर्श की ओर अग्रगामी बनाते हैं ।

निष्कर्षतः 'मूल्य' शब्द की अवधारणा परिवर्तनशील है । इसके केन्द्र में तद्युगीन परिस्थितियाँ और विचारधाराएँ रहती हैं । 'मूल्य' वे मान्यताएँ हैं जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और जीवन निरंतर प्रवाह पाता रहा है,

इसलिए इनमें मानव सापेक्षता और समाज सापेक्षता का भाव अंतर्निहित रहता है । 'मूल्य' व्यक्ति द्वारा स्वानुभूत एक अनुभूति है । 'मूल्य' जीवन को आदर्श ढंग से जीते हुए लक्ष्य तक पहुँचाने के सोपान हैं जिनसे सभ्यता और संस्कृति झलकती है । इनमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की आदर्श भावना तथा 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का स्वर समाहित रहता है । मानव-मूल्यों द्वारा ही मानव सत्यात्मक, सौंदयात्मक तथा शिवात्मक अनुभूतियों और बहुआयामी दृष्टिकोण से मानवीय संस्कृति को अमरत्व प्रदान करते हुए मानव-जीवन में मूल्यों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखता है और समाज तथा मानवता के विकास की धारा के अजस्र प्रवाह को संतुलित रखता है।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 1) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 604
2. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 812
3. हिन्दी विश्व कोश : सं. नगेन्द्रनाथ वसु, पृ. 238
4. आलोचना : अक्टूबर-दिसम्बर, 67, पृ. 64
5. मूल्य मीमांसा : डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे, पृ. 73
6. साधना और परख : सं. डॉ. मोहिनी शर्मा, पृ. 45
7. आलोचना : जनवरी, 54, पृ. 72
8. जलते और उबलते प्रश्न : डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ. 23
9. मूल्य मीमांसा : जार्ज सांत्यना, पृ. 27
10. फंडामेंटल ऑफ इथिक्स : डब्ल्यू. एम. अरबन, पृ. 75
11. नीतिशास्त्र की भूमिका : डॉ. हृदय नारायण मिश्र, पृ. 170
12. फंडामेंटल ऑफ इथिक्स : डब्ल्यू. एम. अरबन, पृ. 16
13. वैराइटीज ऑफ ह्यूमन वैल्यू : सं. चार्ल्स मोरिस, पृ. 11
14. द कन्डक्ट ऑफ लाइफ : लेविस हमफर्ड, पृ. 126
15. एन इन्ट्रोडक्शन टू इथिक्स : विलियम लिली, पृ. 208
16. ए मेनुअल ऑफ इथिक्स : जे. एम. मैकेंजी, पृ. 219
17. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण : हेमेन्द्र पानेरी, पृ. 9
18. नवनीत : जुलाई, 84, पृ. 36
19. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 157
20. **Values depend on us, our sensations, perceptions, desires, estimates and final judgements. They inhere in these functions ofours as part and parcel of their activities. Human value and varieties : H. Osborn Taylor, p. 8**
21. मूल्य मीमांसा : गोविन्द चन्द्र पांडे, पृ. 76
22. वही, पृ. 95
23. भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 161
24. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण : हेमेन्द्र पानेरी, पृ. 21
25. सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन : डॉ. रमेश कुंतल मेघ, पृ. 41
26. फंडामेंटल ऑफ इथिक्स : डब्ल्यू. एम. अरबन, पृ. 163
27. द बायलोजिकल ओरिजन ऑफ ह्यूमन वैल्यू : जार्ज एडगिन प्यू, पृ. 215

28.मारेल वैल्यूज : डब्ल्यू. जी. एवरेट, पृ. 29
29.इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड इथिक्स (भाग - 12), पृ. 584
30.ह्यूमन नेचर एण्ड कन्डक्ट : जे. ड्यूई, पृ. 294
31.धर्म और समाज : डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 21
32.हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य : डॉ. मोहिनी शर्मा, पृ. 8
33.कामसूत्र, 1/ 2/ 37
34.कठोपनिषद्, 1/1/12
35.रामचरितमानस : तुलसीदास, 7/41/1
36.वही, 1 / 7 / 4
37.वही, 1 / 7
38.हिन्दी विश्वकोश : सं. नगेन्द्रनाथ वसु, पृ. 365
39.पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र : सिद्धान्त और परिदृश्य : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 4
40.हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य : डॉ. मोहिनी शर्मा, पृ. 10
41.Art never expresses any thing but itself.... She develops purelyy on its own lines - Decay of lying- oscar wilde seleded works, Ed. Richard Aldingt, P. 56
42.Poetry for poetry sake : Oxford lectures on poetry, A.C. Bradley, P. 25
43.पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 48
44. Life of Milton : S. Johson, P. 57
45.दि कांसेप्ट ऑफ मैनः सुकरात, पृ. 69
46.मनुस्मृति, 1/96
47.निरूक्त, 3/2
48.कल्याण, 1968, पृ. 204
49.ऋग्वेद, 5/82/5
50.यजुर्वेद, 36/18
51.ईशोपनिषद्, मंत्र - 2
52.महाभारत (शान्तिपर्व), 180/12
53.विवेकानन्द साहित्य (खण्ड - 2), पृ. 28
54.कांटैपररी इंडियन फिलॉसफी : डॉ. मैत्र, पृ. 386
55.श्रीमद्भगवद्गीता, 14/5
56.गीता रहस्य : बाल गंगाधर तिलक, पृ. 84

57.हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 659
58.मानव-मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती, पृ. 9
59.आज का भारतीय साहित्य : सं. अज्ञेय, पृ. 403
60.मानव-मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती, पृ. 134
61.आस्था के चरण : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 219
62.चरक संहिता, 6/3
63.नीतिशतकम् : सं. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृ. 86
64.समाजशास्त्र के सिद्धांत : राजेन्द्र जायसवाल, पृ. 274
65.मनुस्मृति, 1/108
66.संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : सं. द्वारिका प्रसाद शर्मा, पृ. 148
67.संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 652
68.संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : डॉ. देवराज, पृ. 386
69.पूर्वोदय, पृ. 64
70.क्षणदा, पृ. 135
71.संकल्पिता, पृ. 20
72.प्लेटो के काव्य सिद्धांत : डॉ. निर्मला जैन, पृ. 45
73.ईश्वर की सत्ता और महत्ता : हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ. 207

द्वितीय अध्याय

सियारामशरण गुप्त जीवन एवं काव्य-परिचय

द्वितीय अध्याय

सियारामशरण गुप्त जीवन एवं काव्य-परिचय

2. क जीवन-परिचय

वसुन्धरा पर महापुरुषों, ज्ञानियों तथा कवियों का अवतरण इतिहास की एक विशिष्ट घटना होती है । अपने उदात्त व्यक्तित्व, उत्कृष्ट विचार सरणि तथा प्रभावपूर्ण क्रिया-कलापों के कारण ये लोग न केवल समकालीन, अपितु आने वाले युग-युगान्तरों तक अपनी चरित्रगत विशेषताओं की छाप छोड़ जाते हैं । इनका व्यक्तित्व एवं इनकी विचार संपदा मानव जाति का पथ-प्रदर्शन करता है । ऐसे संस्कारशील तथा प्रभविष्णु व्यक्तित्व के धनी पुरुषों को जन्म देने में भारत की महीयसी भूमि सदा से ही उर्वरा रही है । भारत देश के जिस भूभाग को कवि सियारामशरण गुप्त जी जैसे मनस्वी एवं स्वाधीन चेता पुरुष को जन्म देने का गौरव प्राप्त हुआ वह चिरगाँव की धरती है । झाँसी जिले के अन्तर्गत् आने वाला यह गाँव इतिहास प्रसिद्ध है ।

2. क. । जन्म :

कविवर सियारामशरण गुप्त का जन्म भाद्र पूर्णिमा वि. सं. 1952 को हुआ था। झाँसी उत्तर प्रदेश का एक प्रमुख जिला है ।[1] चिरगाँव झाँसी कानपुर मार्ग पर अवस्थित है । रीतिकालीन कवि केशवदास जिस ओरछा राजा के आश्रय में रहते थे चिरगाँव उसी रियासत के अन्तर्गत् आता था । उनके पूर्वज मूलतः भाण्डेर के थे । कई सौ साल पहले भाण्डेर से जाकर चिरगाँव में ही बस गए थे । सियारामशरण जी का

जन्म वैश्यों की जिस शाखा में हुआ था उसे 'गहोई' नाम से जाना जाता है । 'गहोई' शब्द गृहपति का अपभ्रंश है । गहोइयों ने ही खजुराहो जैसे प्रसिद्ध मंदिर का निर्माण कराया था । सियारामशरण जी का वंश 'कनकने' नाम से विख्यात है । सर्वप्रथम जिस समय कनकने वंश के 'राघव जू' कनकने चिरगाँव आए थे, उस समय चिरगाँव पर अंग्रेजों का अधिकार था । राघव जू कनकने का वंश आगे बढ़ता गया । इनके पुत्र का नाम ललन जू था । ललन जू के तीन पुत्र हुए -- रामचरण, घनश्यामदास और भगवान दास । रामचरण जिन्हें दाऊ जी के नाम से जाना जाता था। आप ही सियारामशरण गुप्त के पिता थे । सेठ रामचरण एक समृद्धशाली, वैभव सम्पन्न, भूमिपति, धार्मिक एवं संस्कारी व्यक्ति थे । धार्मिक विचारों से ओतप्रोत होने के कारण उनका सारा समय भगवद् भक्ति में ही बीतता था । घर में प्रायः धार्मिक अनुष्ठान होते रहते थे । दूर-दूर से पंडितों, साधुओं एवं भक्तों का जमघट घर पर होता ही रहता था । सियारामशरण जी के पिता के पास अच्छी खासी जमीन थी जिसे उन्होंने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए खरीदा था । उन्होंने अपने-आपको उस युग के मूल्यों के अनुसार ढाला हुआ था । सेठ रामचरण जी की दो पत्नियाँ थीं । पहली पत्नी से महाराम दास जी का जन्म हुआ। दूसरी पत्नी काशीबाई से चार पुत्र हुए । उनके नाम क्रमानुसार हैं -- राम किशोर, मैथिलीशरण, सियारामशरण और चारूशीलाशरण ।

वंशावली

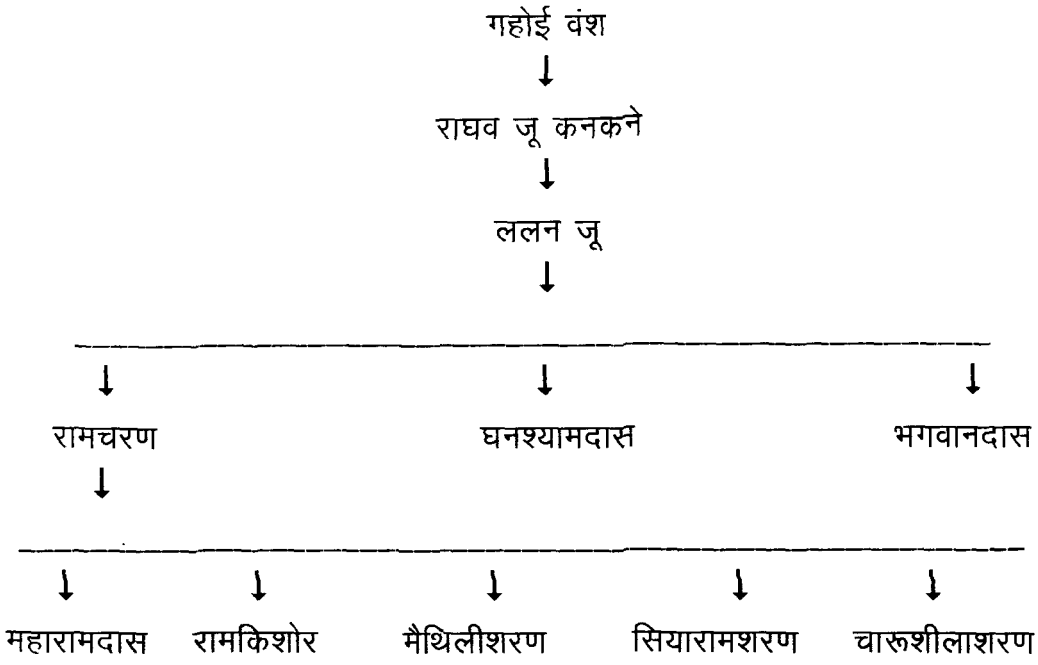

2. क. II शिक्षा-दीक्षा :

सियारामशरण गुप्त बचपन से अध्ययनशील थे । अध्ययन के प्रति एक ललक उनमें थी । उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की ही पाठशाला में हुई । बड़े भाई मैथिलीशरण गुप्त प्रारम्भिक दिनों में अभिभावक बन पाठशाला पहुँचाने जाते थे । उन दिनों पाठशालाओं में दोनों समय पढ़ाई होती थी । सुबह पाठशाला, दोपहर को भोजन के लिए घर आना और शाम को छुट्टी होती थी । पाठशाला से छुट्टी हो जाती तो शाम को फिर पंडित जी घर पर पढ़ाने आते थे । अपर प्राइमरी शिक्षा पूर्ण होने पर सियारामशरण पढ़ना चाहते थे लेकिन गाँव में कोई हाई स्कूल नहीं था । झाँसी में रहकर पढ़ाई जारी रखी जा सकती थी परन्तु वहाँ उनकी देखभाल के लिए कोई नहीं था । घर के बुजुर्गों का मानना था कि शहर की संगति में बिगड़ने की सम्भावना ज्यादा होती है । अतः घर पर ही स्वाध्याय किया जाए । फलस्वरूप घर पर ही संस्कृत, बंगला, गुजराती तथा

अंग्रेजी सीखना शुरू कर दिया। अंग्रेजी में उनकी विशेष रुचि थी । रुचि और परिश्रम के फलस्वरूप उन्होंने जल्दी ही अंग्रेजी भाषा में अपनी अच्छी पकड़ बना ली । प्रसिद्ध कवि टेनिसन की अंग्रेजी कविता का अनुवाद भी उन्होंने किया ।[2]

सियारामशरण जी के घर का वातावरण साहित्यिक होने के कारण बचपन से उनका रुझान भी कविता की ओर होने लगा था । बड़े भाई मैथिलीशरण गुप्त जी के साहित्यिक जीवन की चर्चा आये दिन तत्कालीन पत्रिकाओं में होती ही रहती थी । इसका असर उन पर भी पड़ा और छिप-छिप कर काव्य-रचना करने लगे । वे प्रतिभा को पागलपन में देखते थे । मैथिलीशरण गुप्त जी की छपी हुई कविता को देखकर बहुत प्रसन्न होते । 'शरण गुप्त' सियाराम में भी तो लगा हुआ था। ये सोचकर ही वे खुशी से फूले न समाते ।[3] बाल्यकाल में काश मेरी भी कविता किसी पत्रिका में छपी होती यह विचार बार-बार आता । केवल अपना नाम छपा हुआ देखने के लिए ही नहीं, देखकर प्रसन्न होने के लिए भी पता नहीं कितने बच्चे दूसरों से रचनाएँ लेकर अपने नाम से छपवाते हैं । सियारामशरण जी का बाल सखा छिमाघर उनसे जब कभी कहता 'जाके हिरदय है छिमा ताके हिरदय आप' में मेरा नाम आता है तो सियारामशरण जी भी गर्व से यह कहने से न चूकते कि 'सियाराममय सब जगजानी' रामायण की महिमा अपार है । उनका नाम पवित्र पुस्तक में छपा है । यह सुनकर साथी चुप हो जाता । व्यतीत हुए समय और बढ़ती आयु के साथ उनका रुझान काव्य-रचना की ओर बढ़ने लगा । संकोची स्वभाव के कारण वे अपनी रचनाएँ किसी को भी नहीं दिखाते थे। सियारामशरण जी का काव्य के प्रति इतना प्रेम था कि कई बार कविता की रचना के लिए स्कूल ही नहीं गए रास्ते में कहीं एकांत में बैठकर कविता रचते रहते । कभी तुकांत और कभी अतुकांत ही कविता बन जाती थी । पारिवारिक वातावरण साहित्यिक होने पर भी

सियारामशरण जी संकोची मन के कारण अपनी रचना सुधार के लिए दद्दा को दिखा नहीं पाते ।

परिवार के अन्य लोगों को जब पता चला कि सियारामशरण भी काव्य-रचना करने लगे हैं तो सभी को खुशी हुई । दद्दा ने भी आश्चर्य प्रकट किया और कविता बनाने का आदेश दिया । प्रथम कविता को देखकर दद्दा प्रसन्न नहीं हुए । अप्रसन्नता का भाव भी नहीं था । उन्होंने कविता को काँट-छाँट कर नया रूप दे दिया । नई कविता सियारामशरण जी की कविता न रह गई थी । वे मन में सोचने लगे यह हिसाब-किताब यहाँ भी आ पहुँचा । काव्य की ओर उनका रुझान देख घर वाले कहा करते थे कि परिवार में सभी कवि हो जाएँगे अथवा कोई हिसाब-किताब भी देखेगा । हिसाब में सियारामशरण जी बहुत कच्चे थे । उसमें उनका मन नहीं लगता था । साहित्य-सृजन ही उन्हें प्रिय था । विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने साहित्य-सृजन किया ।

2. क. III विवाह :

सियारामशरण गुप्त का विवाह झाँसी और कानपुर के बीच कानपुर मार्ग पर स्थित बड़ा गाँव निवासी देवकीनन्दन कारेखिभऊ की एकमात्र सन्तान केशरबाई के साथ हुआ था । उस समय के अनुसार वे बाल्यावस्था में ही विवाह बंधन में बँध गए थे। विवाह बहुत धूमधाम से हुआ था । कानपुर के कारीगरों ने आकर आतिशबाजी और फुलवारी बनायी थी, बड़ा गाँव के दरोगा ने भी इस विवाह में हिस्सा लिया था । यह वह समय था जब गाँव का दरोगा गवर्नर से कम नहीं समझा जाता था । झाँसी के कुछ अधिकारी भी विवाह में सम्मिलित हुए थे । गुप्त जी की ससुराल के विषय में अनुज चारूशीलाशरण ने लिखा है -- "भैया के ससुर अच्छे धनी गिने जाते थे । तीन-चार गाँवों में उनकी जमींदारी भी थी । सोना-चाँदी भी यथेष्ट था । उनका विचार था कि

विवाह के कुछ दिन पश्चात् जमाई को अपने ही यहाँ रख लेंगे परन्तु यह उनका भ्रम ही था । अर्थ के लोभ पर हमारा सम्मान ही विजयी रहा । अन्त में मरने से कुछ पूर्व निराश होकर वे एक लड़के को अपना उत्तराधिकारी बना गये ।''[4]

गुप्त जी की पत्नी केशरबाई काम-काज और व्यवहार में बहुत कुशल थीं। स्त्री-शिक्षा का बाहुल्य न होने से वे किसी पाठशाला में तो न जा सकी थीं फिर भी स्त्रियोचित सभी संस्कार उनमें विद्यमान थे । पढ़ने की उत्सुकता को देखकर चारूशीलाशरण जी भाभी को पढ़ाने में मदद करते थे । लेकिन उनकी ये मदद कोरी ही रही क्योंकि तत्कालीन समाज में स्त्रियों का कर्म क्षेत्र घर के अन्दर ही था । घर आये अतिथियों का सम्मान करने में वे अपना सौभाग्य मानती थीं । अपनी व्यवहार कुशलता से उनकी पत्नी ने सभी का मन मोह लिया था ।

2. क. IV गार्हस्थ्य जीवन :

सियारामशरण जी का लालन-पालन संयुक्त परिवार में ही हुआ था । अभिभावक के रूप में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का वरद हस्त उन के शीश पर था। चारूशीलाशरण जी जैसे सहृदय अनुज उनके साथ थे । उनका अपनी पत्नी के प्रति अगाध प्रेम था । पत्नी के रूप में उन्हें बाल-सखा ही मिल गया था । पत्नी भी पतिव्रता थी । उनकी पत्नी अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान होने से माँ चाहती थी कि पुत्री और दामाद बड़ा गाँव में ही आकर रहें । स्वाभिमानी होने के कारण उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा । पत्नी ने भी कभी अप्रसन्नता के भाव प्रकट नहीं किए । सियारामशरण जी अपनी पत्नी को घर पर ही अक्षर ज्ञान कराना चाहते थे। भरे-पूरे परिवार में यह सम्भव नहीं हो पाया । एक बार पत्नी केशरबाई अपने माता-पिता के साथ वृन्दावन की तीर्थ-यात्रा पर गयीं । वहाँ एक सरोवर में स्नान करते हुए उनका

पैर फिसल गया और पानी में डूब गयीं । शोर होने के बाद किसी प्रकार उन्हें सरोवर से बाहर निकाला गया। पेट में बहुत पानी भर गया था । सन्तोषप्रद इलाज से वे बच गयीं, परन्तु इस घटना का दुष्प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर सदा के लिए पड़ गया ।

सियारामशरण जी के कुल चार सन्तानें हुईं जिनमें तीन लड़के और एक लड़की थी । इसे काल का क्रूर मजाक ही कहेंगे कि उनके तीनों लड़कों की असमय मृत्यु हो गई । सन् 1922 में उनकी पत्नी ने भी उनका साथ छोड़ दिया । यद्यपि वे रोग-ग्रस्त थीं फिर भी अचानक उनकी मौत से कवि विदग्ध हो गया । ऐसी विदग्धता में वे अवश्य ही दुःखी थे । उनका यह अवसाद उनकी 'विषाद' रचना में परिलक्षित होता है। उस समय उनकी आयु 27 वर्ष की थी । वे चाहते तो पुनः विवाह कर सकते थे, लेकिन उन्होंने एक पत्नीव्रत रहने का निश्चय कर लिया । ऐसा एक महान पुरुष ही कर सकता था । महादेवी वर्मा ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है -- "मैने तो 'विषाद' की पंक्तियाँ पढ़कर ही यही माना है कि अपनी बाल-संगिनी पत्नी को उन्होंने अपने हृदय का समस्त स्नेह ऐसी निष्ठा के साथ समर्पित किया था कि उसे लौटा लेना दोनों लेने-देने वाले का अपमान बन जाता ।"[5]

पत्नी के जाने के बाद बेटी उर्मिला ही बची थी । अपना समस्त लाड़-प्यार उस पर उड़ेल वे अपना विषाद कम करना ही चाहते थे कि तीन वर्षीय बेटी उर्मिला भी इस संसार से विदा हो गयी । उर्मिला ने अपने ननिहाल बड़ा गाँव में ही अन्तिम साँस ली थी । उस समय सियारामशरण जी भी वहीं पर थे । बेटी की हृदय-गति रुकने से हुई मौत को देख वे विक्षिप्त से हुए। 'आर्द्रा' काव्य में 'हूक' कविता बेटी को लक्ष्य करके ही लिखी गयी है । परिस्थितियों ने जो निर्मम घाव उनको दिये उसका कष्ट उन्हें

आजीवन रहा । वेदना को हृदय में छिपाये वे तल्लीनता से घर तथा साहित्य की सेवा में लगे रहे। साहित्य-सदन की लिखा - पढ़ी और दद्दा आदि परिवार के बड़े लोगों को पान खिलाने का काम भी वे ही करते थे ।

2. क. V देहावसान :

मानव-जीवन की क्षण भंगुरता, संसार की नश्वरता और मृत्यु की शाश्वत विभीषिका सियारामशरण जी के समक्ष भी उपस्थित हुई । साधारण मानव के लिए रोग, शोक, जरा और मृत्यु चाहे किसी भी प्रकार की उत्तेजना पैदा न करते हों, किन्तु मनस्वी और दार्शनिक प्रकृति के पुरुषों के लिए ये घटनाएँ सदा ही असाधारणता लेकर आई हैं और उनके जीवन को एक निर्णायक मोड़ देने में कारण बनी हैं । उनकी पत्नी की मृत्यु, बालकों तथा अबोध बालिका का निधन इसी प्रकार के मानस-मंथन का हेतु बनकर आई। कवि इन सबके बिछोह से दु:खी तो था पर अपने मन और मस्तिष्क को उद्वेलित करने वाले वैराग्यादि तीव्र भावों को परिजनों के समक्ष प्रकट नहीं किया, तथापि उनकी मनोदशा का परिणाम उनके गिरते स्वास्थ्य से जाना जा सकता था । वैसे तो बचपन से ही शारीरिक रूप से दुर्बल होने के कारण बीमारियों का आक्रमण होता ही रहता था । मैथिलीशरण गुप्त ने इस सम्बंध में लिखा है : ''उनके शैशव का एक स्मरण आज भी मुझे याद है । उनके पैर में एक भयानक फोड़ा हुआ था । जिस दिन उसमें चीरा लगाये जाने की बात थी उसी दिन वह अपने आप फूट गया । इतनी पीब निकली कि मानो उनका सारा शरीर ही निचुड़ गया । सम्भव है, उसी के कारण उनकी बाढ़ मारी गई हो। ऊँचाई में वे मेरी अपेक्षा बहुत छोटे रह गये ।''[6] यौवनारम्भ में ही उनको श्वास रोग ने आ घेरा । कभी-कभी यह रोग उन्हें बहुत कष्ट देता था । इस रोग से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने जल चिकित्सा आदि कितने ही उपचार किये । प्राणायाम व्यायाम आदि

भी किए पर रोग बढ़ता ही गया । दमा रोग से छुटकारा पाने के लिए वे धतूरे के बीज की धूनी भी लेते थे । इस धुएँ से थोड़ी-सी राहत भी मिलती थी । इस दवा के प्रयोग पर 'दद्दा' नाराज होकर कहा करते थे -- ''धतूरे की दवा लेते हैं, इसलिए जिद्दी हो गए हैं।''[7] युवावस्था में इस रोग से शरीर को कष्ट कम होता था । जैसे-जैसे आयु बढ़ती गई वैसे-वैसे रोग भी कष्टदायी होता गया । एक बार साँस फूलती तो रात भर बेचैन रहते। सन् 1925 में लखनऊ जाकर टॉसिल का आपरेशन भी करवाया था । वे मूत्र-रोग से भी ग्रसित थे । चाहते तो ऑपरेशन करवाकर इस रोग से छूटकारा पा सकते थे, परन्तु उन्होंने अपने जीवन की नाव को भगवान भरोसे छोड़ दिया था। एक के बाद एक बीमारी का आक्रमण शरीर पर होता रहा, लेकिन उन्हें लगता जैसे ईश्वर उनकी परीक्षा ले रहा है । एक बार जब पेशाब आना बिल्कुल बन्द हो गया तब डॉ. बखरू उन्हें झाँसी के अस्पताल में ले गए । डॉ. बखरू झाँसी के प्रमुख डॉक्टर थे, उन्होंने उनका आपरेशन किया । यह आपरेशन सफल रहा । सन् 1956 में दूसरा आपरेशन किया गया, वह भी सफल रहा । जान लेवा बीमारी में डॉ. बखरू के साथ झाँसी जाते हुए अपनी मनस्थिति का वर्णन स्वयं कवि ने किया है -- ''चिरगाँव से झाँसी तक 18 मील की यह सड़क और जिस पर दौड़ने वाली ये मोटर बसें मेरे लिए नहीं हैं । इसमें बैठकर भूमि के ऊबड़-खाबड़ गड्ढों की धमक और सहयात्रियों के धक्के कम अनुभव नहीं किए हैं । शरीर पर नहीं तो मन की किसी कोठरी में उनके आलेखन अब भी कहीं न कहीं सुरक्षित होंगे । फिर भी आज मेरी यह यात्रा नई यात्रा हो गई थी । ऐसी विचित्रताएँ घटती न रहें तो यह संसार कभी का पुराना पड़ जायेगा ।''[8] ''महीनों पहले की बात है । कुछ सचेत और अचेत अवस्था में डॉक्टर की कार से झाँसी जा रहा था। उस समय घर के द्वार को, आँगन और फाटक के आसपास खड़े आत्मीयों को, स्वजनों को और

परिजनों को चुपचाप नमस्कार किया था । यह नमस्कार अन्तिम हो सकता है । भूल गया हूँ, सड़क को भी नमस्कार किया था या नहीं ।''[9] बीमारी का इलाज कराने के लिए दद्दा उन्हें कलकत्ता भी ले गए थे जहाँ उन्हें टाइफाइड हो गया था । बीमारी से निजात पाने के लिए सैकड़ों उपाय किए गए पर यह उपाय ढाक के तीन पात ही सिद्ध हुए ।

सन् 1963 की शुरुआत से ही उनका स्वास्थ्य गिरना आरम्भ हो गया था । चेहरे तथा हाथ-पैरों में सूजन आ गई थी वे स्वयं भी अपने को रुग्ण अनुभव करने लगे थे । दमे का निरन्तर आक्रमण हृदय को कमजोर कर रहा था । डॉ. दीवान से परामर्श भी लिया, जिससे कुछ लाभ भी मिला था, पर वे अपने को अस्वस्थ ही मान बैठे थे । डॉ. नगेन्द्र उनकी अस्वस्थता से परेशान रहते थे । वे चाहते थे किसी भी तरह उनको बीमारी से निजात मिल जाये । इसके लिए वे कई बार डॉ. दीवान से भी मिल चुके थे। 25 मार्च, 1963 को अचानक उन्हें दिल का दौरा पड़ा । डॉ. दीवान के परामर्श के बाद 'सर-गंगाराम नर्सिंग होम' दिल्ली में दाखिल करा दिया गया । इलाज के बाद हालत सामान्य हो गई थी फिर भी चिकित्सकों का कहना था 72 घंटे से पहले हृदय रोग में किसी को खतरे से बाहर घोषित करना सही नहीं है । खतरे के 72 घंटे बीत गए । दद्दा को अत्यन्त आवश्यक कार्य से झाँसी जाना था । तीन दिनों में तबियत में काफी फेर-बदल हुआ था । डॉक्टर के कहने पर दद्दा आश्वस्त होकर झाँसी चले गये । 28 मार्च को हालत फिर से बिगड़ने लगी । हर्निया और दमा दोनों ने फिर परेशान किया । आँतें भी उलझ गई थीं जिससे श्वास-प्रश्वास में कष्ट होने लगा । ऑक्सीजन दिया गया। औषधियों का प्रयोग भी जारी था पर 'बापू' की हालत बिगड़ती ही जा रही थी । बार-बार बेहोश होने लगे थे । चेतना-अवचेतना के बीच में डॉ. नगेन्द्र को बुलाओ कह रहे थे । चिकित्सक भी चिन्तितावस्था में थे । बीमारी का समाचार फैल चुका था । मित्र,

भक्त सभी दर्शनार्थ आ जा रहे थे । औषधियों ने काम करना बंद कर दिया । आशावान डॉ. दीवान भी अपने प्यारे मरीज को न बचा सके थे । मृत्यु के हृदयद्रावक रूप का चित्रण डॉ. सावित्री सिन्हा के शब्दों में -- "28 मार्च को मैं कई घंटे उनके पास रही । नाक में ऑक्सीजन की नली सतत् रूप से लगी थी, फल का रस और ग्लूकोज नलियों से चढ़ाया जा रहा था । डॉक्टर अन्तिम क्षण तक आशावान थे । बापू ने एक बार आँखें खोलीं । मैं और गिरधारी (उनका पुराना सेवक) सामने खड़े थे, उन्होंने गिरधारी को ऐसे नेत्रों से देखा जैसे कोई बिदा लेता हुआ पिता पुत्र को देख रहा हो, उनकी साँस उर्ध्वगति से चल रही थी । मैं मृत्यु का यही रूप एक बार पहले देख चुकी थी, इसलिए मेरे मन की शंका बराबर बढ़ती ही जा रही थी । बापू की साँस धीरे-धीरे कम होती गयी, आँखों की चेतना लुप्त होती गयी, पर कोई यह विश्वास करने को तैयार न था कि बापू जा रहे हैं, हमारी आशाओं के विपरीत और डॉक्टरों के आश्वासन के विपरीत जा रहे हैं।"[10]

इस प्रकार 28 मार्च, 1963 रात्रि के लगभग 8.00 बजे हिन्दी साहित्य का एक देदीप्यमान नक्षत्र सदा के लिए अस्त हो गया । पार्थिव शरीर को दिल्ली से चिरगाँव ले जाया गया । प्रस्थान का दृश्य अत्यन्त ही कारुणिक था । गाड़ी के चलते ही वहाँ अवस्थित सभी लोग जोर-जोर से रोने लगे । डॉ. नगेन्द्र जैसे संयमशील व्यक्ति भी जोर-जोर से रोये । 29 मार्च, 1963 को शाम के लगभग 7:00 बजे चिरगाँव में ही उनका दाह-संस्कार किया गया । भगवान भास्कर अपनी दैनन्दिन यात्रा को समाप्त कर उसी प्रकार अस्ताचल को जा रहे थे, जिस प्रकार बुन्देलखण्ड का कर्मठ योगी, हिन्दी साहित्य का महान कवि 55 वर्षों तक अपनी दिव्य आभा को विकीर्ण कर इस वसुन्धरा को छोड़ अपने जन्मदाता सविता देव की गोद में चला गया ।

2. ख काव्य-परिचय :

साहित्यकार का जीवन साधना का जीवन है । दीये की भाँति जलकर वह दूसरों को प्रकाश देता है । जीवन भर व्यथा में तपकर वह जो पाता है उसे ही वह कविता में अभिव्यक्त करता है । जीवन और जगत के समस्त विष को वह अपनी साधना के बल से अमृत कर लेता है । वह सृजन को ही तप मानता है । ऐसे ही जीवन-व्यापी साधना के स्वामी हैं - कवि सियारामशरण गुप्त । सियारामशरण गुप्त द्विवेदी युग के विशिष्ट कवि हैं । उन्होंने सन् 1914 से 1963 तक सतत काव्य-साधना की । उनकी सबसे पहली कविता सन् 1910 में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई।[11] उसके बाद उनकी कविताएँ 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित होने लगीं। गुप्त जी ने खण्ड-काव्य, काव्य-रूपक, व्यक्ति-काव्य, चरित्र-काव्य तथा विचार प्रधान कविताओं के रूप में दो दर्जन से अधिक काव्य-कृतियों का प्रणयन किया है ।

2. ख.। मौर्य-विजय :

सियारामशरण गुप्त ने अपनी प्रारम्भिक प्रेरणा प्राचीन गौरव से ग्रहण की। राष्ट्र-निर्माण में अतीत का गौरव गान भारत के स्वतन्त्रता संग्राम की परम्परा रही है । 'मौर्य-विजय' गुप्त जी द्वारा रचित सन् 1914 में प्रकाशित एक प्रसिद्ध खण्डकाव्य है । यह खण्डकाव्य तीन सर्गों में विभक्त है । 'मौर्य-विजय' में कवि ने सिल्यूकस के भारत आक्रमण की कथा को लिया है । यह द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक काव्य का सुन्दर निदर्शन है । इसकी कथा छप्पय छन्दों में है । कवि ने काव्य का आरम्भ मंगलाचरण से किया है । चन्द्रगुप्त मौर्य की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए उनके राज्य के वर्णन के साथ प्राचीन भारत का अनुपम दृश्य उपस्थित किया है :

भारत-भाग्याकाश स्वच्छ था सु-प्रसन्न था,

था सर्वत्र सुकाल, विपुल-धन और अन्न था ।

फैला था आलोक ज्ञान-रूपी दिनकर का,

हटा रहा था अन्धकार जो भूतल भर का ।[12]

कवि ने कलात्मक ढंग से सिल्यूकस के भारत आक्रमण को छन्दबद्ध किया है। महामंत्री चाणक्य की विद्वता व दूरदर्शिता का अभूतपूर्व चित्रण है :

बोले तब चाणक्य - यदपि कुछ हमें न भय है,

अति अजेय यह भरत-भूमि अब भी निश्चय है ।

किन्तु शत्रु को तुच्छ समझकर अपने मन में,

अनवधान हे वत्स, कभी मत रहना रण में ।[13]

ग्रीक और हिन्दू सेनाओं के जोश तथा भयंकर युद्ध का ओजस्वी एवं सजीव चित्रण है । एथेना के रूप में नारी-पात्र की भी सृष्टि की है जो युद्ध की भयंकर विभीषिकाओं के विरूद्ध है । जिसके हृदय में भारत के प्रति अगाध श्रद्धा है :

अहो पिता, इस रंग-भूमि पर रक्त बहाकर,

फैला रहे अशान्ति हाय ! किस लिए घोरतर ।

आह ! ग्रीक-सी छटा यहीं पर मैंने पाई,

है यह सुन्दर देश नहीं किसको सुखदाई ।।[14]

इस काव्य के द्वारा कवि भारतवासियों के हृदय में स्वदेशानुराग का उदय कर उन्हें अतीत के गौरव से परिचित कराना चाहते थे । तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम में इस काव्य ने देश के नौजवानों के अंदर जोश का संचार किया तथा राष्ट्रीय जागरण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया ।

2. ख. II अनाथ :

'अनाथ' काव्य का प्रथम प्रकाशन सन् 1917 में हुआ था ।[15] इस काव्य में ग्रामीण जीवन का एक कारुणिक चित्र उभारा गया है ।[16] जिसमें जमींदारी प्रथा, बेरोजगारी तथा शोषण और पुलिस के हृदयहीन अत्याचारों पर करारा व्यंग्य किया है । मोहन और उसकी पत्नी जमुना गरीब ग्रामीण हैं । उनका पुत्र मुरलीधर मृत्यु-शय्या पर निःसहाय अवस्था में पड़ा है । छोटा पुत्र भी भूख से तिलमिलाया हुआ है । चारों भूखे एक दूसरे का मुख ताकते हैं । कोई उपाय न देख मोहन घर में रखे लोटे को गिरवी रखने चल देता है । लोटे के बदले थोड़ा-सा आटा कहीं से मिल गया था । उत्साहित होकर घर की ओर चल देता है, लेकिन विधि को कुछ और ही मंजूर था । वह घर की अपेक्षा थाने पहुँच गया । वहाँ पुलिस के गरम मिजाज तथा बदसलूकी का शिकार होना पड़ा । घर लौटा तो मुरली इस जग को छोड़ जा चुका था । जमुना का भी कुछ पता नहीं था । अंत में पत्थर से ठोकर लगकर वह भी गिर जाता है और पुत्र का ही अनुगामी हो जाता है । यह काव्य कवि की अन्तर्वेदना के दर्शन कराने में पूर्णतः सक्षम है:

पर कातरा पत्नी, क्षुधित शिशु, रूग्न सुत के ध्यान में
खिंच-सा चला गृह-ओर ही वह भूल कर सब आन में ।
उस ओर जाते देख आँखें अश्रु बरसाने लगी,
दुर्भावनायें अधिकता से चित्त में आने लगी ।।[17]

2. ख. III विषाद :

इस काव्य का प्रथम प्रकाशन 1929 ई. में हुआ था । प्रस्तुत काव्य-कृति पन्द्रह विषादमयी रचनाओं का संकलन है । सियारामशरण जी की जीवन संगिनी की

अकाल मृत्यु हो गई थी । वे अपनी अर्द्धांगिनी से बहुत प्यार करते थे । उसका बिछुड़ना सह्य नहीं था । दुःखित कवि के हृदय में घनीभूत पीड़ा थी । इस काव्य की प्रेरणा कदाचित अर्द्धांगिनी की मृत्यु से ही कवि को प्राप्त हुई थी । इन कविताओं में स्थित पीड़ा बरबस मर्म को स्पर्श करती है । यों तो कवि अपनी पीड़ा को नियन्त्रित कर उसे सक्रिय शक्ति के रूप में देखने की चेष्टा करता है, किंतु वे इसमें असफल हैं :

आँसुओं का यह प्रचुर प्रवाह,
हृदय का ऐसा दाहक दाह,
धर्म का यह गहरा घाव,
साधनों का यह वृहदाभाव,
वेदना का यह चिर चित्कार ।[18]

कवि की व्यथा बड़ी गहरी परन्तु संयत है । वे नहीं जानते कहाँ से और क्यों मृत पत्नी की स्मृति पुरवाई हवा की भाँति आती है और उन्हें झकझोर देती है :

वह भूला भटका मनस्ताप
कर उठा अचानक है विलाप ।
ले अन्धकार अपना अभंग
बहु विगत निशाएँ एक संग ।
हो गईं खड़ी आकर समक्ष,
कम्पित है एकाएक वक्ष ।[19]

उनका रोम-रोम विषाद से चीत्कार उठता है और धैर्य का बाँध टूट जाता है। यद्यपि वे अपनी अन्तर्वेदना को नियन्त्रित करना चाहते हैं तथापि बरबस कह उठते हैं :

(हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना) यह छलना है व्यर्थ ;

अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ ।

उनमें से भी तुझ तक कोई पहुँच न सकते आह !

जाने कितने गिरी-वन-सागर रोक रहे हैं राह ?[20]

कवि के जीवन की करुण वेदना का अवलोकन कराने वाला यह काव्य-ग्रंथ सहृदय पाठक के अन्तःकरण को मर्माहत कराता है । कवि की आत्म-पीड़ा स्व-पीड़ा सी लगती है । करुण रस में लिखी गई यह कृति गुप्त जी की कालजयी रचना है ।

2. ख. IV आर्द्रा :

सियारामशरण जी का 'आर्द्रा' काव्य उनके जीवन के इर्द-गिर्द घूमता है । इस संग्रह में कुल तेरह कविताएँ संग्रहित हैं । करुण रस से ओतप्रोत कथात्मक शैली में गार्हस्थिक और सामाजिक जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र इस काव्य में अंकित हैं । 'आर्द्रा' काव्य का प्रकाशन वर्ष सन् 1928 है। इस काव्य में कवि की करुणा समष्टिगत हो जाती है । वे सामाजिक विद्रुपताओं को देखकर क्षुब्ध हो उठते हैं ।[21] इस काव्य की प्रथम कविता 'हूक' में कवि के पितृत्व पूर्ण हृदय के दर्शन होते हैं । बेटी उर्मिला की हृदय गति रुकने से होने वाली मृत्यु का मार्मिक वर्णन है । तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों का वर्णन करने से भी वे नहीं चूके हैं। सरल और प्रसादमयी भाषा में कथाओं के सहारे देश की दरिद्रता, अशिक्षा, अमानवीयता, नृशंसता पर व्यंग्यात्मक रूप से प्रहार किया है । इन रचनाओं में कवि के व्यथित हृदय की 'हूक' और समाज के अन्याय तथा क्रूरता के प्रति विद्रोह का आह्वान है । उन्होंने सामाजिक पक्ष को काव्य का माध्यम बनाया है । इस संग्रह की प्रत्येक कविता में करुणासिक्त कथा है । ये कविताएँ सहृदय के अन्तःकरण को झकझोर देती हैं और अन्तर्मन बरबस चीत्कार कर उठता है । 'खादी की चादर' नामक कविता में चम्पा का कारुणिक चित्रण है । विधवा होते ही स्त्री के

लिए यह जग अंधकारमय हो जाता है :

चम्पा का सौभाग्य-सूर्य जब
अस्त हो गया असमय ही,
उसके लिए विशाल विश्व यह
बस हो गया, तमोमय ही ।
x x x x
मुझ अभागिनी का सहाय क्या
कहीं नहीं होगा कोई ?
बैरी हुआ विश्व भर मेरा,
हाय ! कहाँ अब जाऊ मैं ।[22]

'नृशंस' कविता में दहेज के विकृत रूप का चित्रण है । इसमें दहेज के कारण होने वाले अनमेल विवाह का निरूपन कवि ने किया है । जिस समाज में दहेज का लेन-देन किया जाता है कवि ने उसे घातक-समाज रूपी कंस की संज्ञा दी है :

वय से भी है समृद्ध,
जान पड़ता है वह मेरे पिता से भी वृद्ध ।
करके दहेज का पिनाक-भंग,
मेरी जानकी का वर होगा वह एक संग !
x x x x
घात-समाज-कंस,
सौप दूँ स्वयं मैं तुझे कन्या यह रे नृशंस ?[23]

'एक फूल की चाह' हिन्दी साहित्य की कालजयी कारुणिक कविता है। इसमें

छूआछूत जैसी सामाजिक कुरीति का मार्मिक वर्णन है । सवर्णों द्वारा अस्पृश्य जाति के प्रति किए गए अत्याचार की हृदय-स्पर्शी कहानी है । पुत्री की अन्तिम इच्छा पूर्ण करने के लिए मन्दिर की सीमा रेखा को पार कर देवी के प्रसाद को पाने के इच्छुक दलित व्यक्ति को न्यायालय तक पहुँचा दिया जाता है, जहाँ उसे देवी का अपमान करने के जुर्म में सात दिन का कारावास मिलता है । घर वापस आने पर पिता फूल-सी कोमल बच्ची को राख की ढेर के रूप में पाता है । उसका हृदय व्यथा से चीत्कार कर उठता है :

हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी !
अन्तिम बार गोद में बेटी,
तुझको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी,
तुझको दे न सका मैं हा ![24]

कवि ने 'चोर' कविता में सभ्य समाज पर करारा व्यंग्य किया है । झूठी शान दिखाकर सभ्यता का मुखौटा लगाए गरीब को असभ्य ठहराना अमानवीय कृत्य है। यही इस कविता का प्रतिपाद्य है । 'अग्नि-परीक्षा' कविता में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की भूमिका पर 'सुभद्रा' नाम की हिन्दू नारी के ओजमयी दर्शन होते हैं :

सहसा सुभद्रा के प्रदीप्त नेत्र जलके
हो गए प्रपूरित अनल से !
सजला घटा में उठी विद्युदग्नि संग,
करके तिमिर भंग ![25]

इस प्रकार 'आर्द्रा' काव्य समाज के करुणार्द्र चित्र प्रस्तुत करता है । कथात्मक पद्य, चित्रमयी भाषा, प्रवाहमयी शैली और प्रसाद गुण के लिए यह काव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है ।

2. ख. V दूर्वादल :

इस काव्य ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन 1929 ई. में हुआ । यह काव्य-ग्रंथ कवि के साहित्यिक विकास और प्रगति का परिचायक है । यह विभिन्न विषय विषयक 35 रचनाओं का संग्रह है, जो कवि ने समय-समय पर देश तथा अपने जीवन से प्रभावित होकर लिखी थीं । कवि का आत्म-पीड़न तथा अपने जीवन को सोद्देश्य और महत्त्वपूर्ण बनाने की अभिलाषा इन रचनाओं में व्यक्त है । कवि का उदात्त वृत्तियों से अभिभूत व्यक्तित्व भली प्रकार से इस काव्य-ग्रंथ में अभिव्यक्त हुआ है :

अहा ! एक दिन दया तुम्हारी मैंने पाई,
ऊपर वह घन-घटा-रूप में दी दिखलाई ।
द्रवित हुए तुम, बरस पड़े बस सकरुण होकर,
मैं कृतार्थ हो गई मलिनता अपनी धोकर ।
छाकर करुणा-मेघ तुम्हारा घहरा ज्यों ही,
सहसा चारों ओर हुआ परिवर्तन त्यों ही ।[26]

कवि राम के अनन्य भक्त थे । अतः राम सदृश तुलसीदास भी उन्हें प्रिय थे। वे तुलसी के रूप में ताप हरने वाले राम को ही देखते हैं :

रम्य रामचरितामृत से यह
मानस तुमने भर कर,
किया पुनीत प्रेममय इसको

पाप-ताप सब हर कर ।[27]

'लेखनी' कविता में कवि ने स्वयं की लेखनी को संबोधित किया है । लेखनी ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा अन्तस्तल की मर्म कथा को दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है :

सम्मुख लाकर रख देती है
अन्तस्तल अन्तस्तल से,
किए हुए है मुग्ध सभी को
तू किस कौशल से-बल से ?
तेरे पुण्य करुण-कीर्तन से
हृदय द्रवित हो जाता है,
तेरा ही स्वर मर्म-कथा को
प्रियतम तक पहुँचाता है ।[28]

'दूर्वादल' की कविताओं से स्पष्ट है कि इस समय तक कवि का साहित्य लेखन परिमार्जित एवं परिष्कृत हो चुका था । देश के राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक नव जागरण का स्वर उनमें विद्यमान था । 'घट', 'वीणा', 'पथ' तथा 'कब' शीर्षक नामक कविताएँ इसका निदर्शन हैं । गुप्त जी ने अन्य रचनाकारों की भाँति सूक्ष्म व्यंजना वाले लघु गीतों की भी रचना की है :

ज्ञात किसे, कहाँ, घूम तुम आये हो ;
कितनी विलुप्त कथा,
हर्ष-व्यथा
धूल के कणों में तुम यत्न से छिपाये हो ;

वर्षा, शीत आतप में

रात दिन मग्न रह मौन आत्मतप में

कितने प्रवासियों को

मर्त्यलोक वासियों को

तुमने ठिकाने पहुँचाया है ;

पार-सा लगाया है ।[29]

इन सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि कवि अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं के प्रति सजग थे । काव्य-प्रगति से पूर्ण परिचित थे । हिन्दी कविता को नई दिशा तथा नवीन विषय प्रदान करने में वे संलग्न थे । राष्ट्र भक्ति, ईश्वर भक्ति, आत्म-निवेदन आदि अभिव्यक्तियों से पूर्ण 'दूर्वादल' कवि सियारामशरण जी का एक महत्त्वपूर्ण संकलन है।

2. ख. VI आत्मोत्सर्ग :

सियारामशरण जी राष्ट्रभक्त कवि थे । राष्ट्र-प्रेम उनमें कूट-कूट कर भरा था । राष्ट्र के प्रति समर्पित व्यक्तियों तथा बलिदानियों के सम्मुख वे सदा नतमस्तक रहे। देश के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाले अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के बलिदान पर सारा देश क्षुब्ध तथा दुःखी था ।' आत्मोत्सर्ग' कथा-काव्य इसी दौरान लिखा गया था । इस काव्य-रचना का प्रथम प्रकाशन 1933 ई. में हुआ था ।[30] कवि गणेश शंकर विद्यार्थी के जीवन को अमूल्य मानते थे । विद्यार्थी जी के बलिदान ने राष्ट्र को झकझोर कर रख दिया था । देश में होने वाले साम्प्रदायिक दंगों ने सियारामशरण गुप्त को बहुत विचलित किया था । मानवता को दानवता में परिणत होते देख वे हैरान थे। विद्यार्थी जी के आत्म-बलिदान ने इनके मन-मस्तिष्क पर प्रहार किया था । 'आत्मोत्सर्ग' चरित्र काव्य उसी प्रहार का परिणाम है । विद्यार्थी जी के प्राण-त्याग

की करुण कथा इस काव्य में अंकित है । कानपुर के दंगों के विषाक्त वातावरण का सुन्दर चित्रांकन है । विद्यार्थी जी का साहस आज भी सबके लिए अनुकरणीय है । देश-हित के लिए निस्वार्थ-भाव से किए गये बलिदान की कथा पढ़कर रोमांच होता है । गुप्त जी का यह सरल एवं सजीव काव्य है । दो गुटों के मध्य पिसती मानवता का हृदय-दावक चित्रण दृष्टव्य है :

हिन्दू-मुसलमान दोनों ही
एक साथ हो उठे पिशाच ।
अबला है या वृद्ध कि बालक,
यह कुछ हाय ! नहीं देखा ;
हिन्दू है या मुसलमान, बस
इसी बात का था लेखा ।
एक-दूसरे पर चढ़ दौड़े
ले-लेकर पत्थर ढेले ;
मनुष्यत्व तज मनुज खुले में
खेल भेड़ियों के खेले ।[31]

इन्हीं दंगों में लड़ाई को शांत करवाने पहुँचे विद्यार्थी जी की नृशंस हत्या कर दी जाती है । हत्यारों पर निशाना साधते हुए कवि कुपित होकर कहता है :

अरे दीन के दीवानों, हा ।
यह तुमने क्या कर डाला ?
अपने हाथ खून से रंग कर
किया स्वयं निज मुहँ काला ।[32]

इस काव्य का अन्त व्यथात्मक है । विद्यार्थी जी के भौतिक तन का अंत हो गया हो लेकिन उन्होंने स्वतन्त्रता की जो चिंगारी लगाई थी वह धधक उठी । अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी गई । फिर भी कवि यह कहकर आत्म संतोष पाने की चेष्टा करता है :

अपने तनु की खाद बनाकर
अमर बीज तुमने बोया ।
नहीं बुझेगी चिता तुम्हारी
उसकी यह ज्वलन्त ज्वाला ।
निज प्रकाश से मातृभूमि का,
मुख उसने है धो डाला ।[33]

2. ख. VII पाथेय :

सियारामशरण जी के काव्य में संस्कार और साधना का सुन्दर समन्वय है । वे उन कवियों में से हैं, जिन्होंने सच्चे अर्थ में काव्य की साधना की है । निरन्तर तीन-चार वर्षों की साधना द्वारा लिखी गई विचारात्मक कविताओं का संग्रह है -- 'पाथेय'। इसका प्रथम प्रकाशन 1934 ई. में हुआ ।[34]

'अमर', 'आकांक्षा', 'बोध', 'आह्वान', 'शंखनाद', 'अनुकूल', 'नवजीवन', 'पुलक प्राप्ति' आदि कविताएँ कवि के आशावादी स्वर को अभिव्यक्त करती हैं :

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझमें नवजीवन आया !
आया, हाँ, आया आया !
तरल तरंगों में उठ इसने

तन को, मन को लहराया,

लहराया, हाँ लहराया ।[35]

नूतन यात्री ने इस 'पाथेय' का सम्बल ग्रहण किया है । क्षणिक आनन्द भी कवि को उत्साहित करता है :

मेरे पुलक स्वाति के घन हे ।

पूरा कर मेरा अभिलाष ;

अधिक नहीं बस, इस सीपी को

एक बूँद की ही है प्यास ।[36]

जब जीवन के प्रति उत्साह एवं हर्ष के स्वर मुखरित होते हैं । तब अनायास ही कवि कह उठता है :

बन्धु मार्ग में चलते-चलते

अकस्मात तू मुझे मिला ;

नव प्रभात के पुण्य-योग में

नव प्रसून सा खिला-खिला ।[37]

इस काव्य-ग्रंथ की कविता 'शंखनाद' ख्याति प्राप्त रचना है । छोटी-छोटी नगण्य घटनाओं से असीम और विराट की झाँकी इस संग्रह की खास विशेषता है । कहीं-कहीं भावनाएँ अस्वाभाविक भी हो उठती हैं । फिर भी काव्य का अंत नव प्रभात की इस आशा में ही है :

चिन्ता की क्या बात सखे, यदि

हूँ मैं पूरा वर्ष ;

लौट पड़ूँगा क्षण में ही मैं

ले नूतन का हर्ष ।[38]

2. ख. VIII मृण्मयी :

सियारामशरण जी काव्य की भूमि में सदैव विचारक की भाँति गम्भीरता और सहज विनय के साथ उतरे हैं । वे प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का सत्यान्वेषी पुरुषों की भाँति विश्लेषण करते थे । उनका यह विश्लेषण सात्विकता पूर्ण होता था । अपने काव्य द्वारा उन्होंने सरल तथा प्रांजल भाषा में जीवन की मौलिक उद्‌भावनाओं के गीत भी गाये हैं । 'मृण्मयी' काव्य-संग्रह उनकी उदात्त वृत्तियों का सुन्दरतम नमूना है । इस काव्य का प्रकाशन 1936 ई. में हुआ ।[39] इसमें कुल ग्यारह कविताएँ संकलित हैं । 'ग्वालिनें', 'खिलौना' तथा 'सम्मिलित' कविताओं को छोड़कर शेष कविताएँ लम्बी हैं । इन कविताओं में प्रवाहमयी शैली द्वारा जीवन की छोटी-बड़ी विद्रुपताओं का वर्णन किया गया है । कवि की जन्मभूमि बुन्देलखण्ड के उन्मुक्त जीवन का प्रभाव उन पर पूर्णरूपेण है :

तेरी स्तन्य-सुधा पी पीकर
जिस दिन मेरे नयन खुले,
तेरे ही श्रावणिक-स्त्रोत से
मेरे कण-कण धुले-धुले !
मेरे कुटिल-सम-विषम में भी
दीख पड़ी कुछ आकृति-सी ;
दूर्वा-दल भी कुल्ल-द्रुमों-से
मोदानिल में डुले-डुले ![40]

काव्य का आरम्भ 'सावन-तीज' कविता से हुआ है । इस कविता में कवि की मातृभूमि के प्रति समर्पित भावना दृष्टव्य है :

हे मंगलमयि तेरे कर में,

पुण्य पुरातन नव-नव है ;

चिर-भविष्य अनुगामी होकर

मना रहा हर्षोत्सव है ।[41]

धरती के शस्य-श्यामला रूप को उजागर करना कवि को अभीष्ट था । धरा के प्रेरक रूप का चित्रण ही, इस काव्य को अनूठा बनाता है । 'रजकण', 'लाभालाभ', 'अमृत', 'मंजुघोष' शीर्षक कविताएँ इसी मूल भाव की व्याख्या करती हैं । 'छल' कविता में बाल-क्रीड़ा की पृष्ठभूमि पर सागर और मानव के भ्रम अथवा आत्म-वंचना के सुन्दर चित्र हैं । इन रचनाओं में शब्द-चित्रों की अनुपम छटा विकीर्ण है । सागर तट पर लहरों का यह अद्‌भुत वर्णन अवलोकनीय है :

आहा ! ये तरंगें बड़ी

सागर की नन्हीं बालिकाएँ हैं ;

कितनी लड़ी की लड़ी,

प्रस्फुटित नीर-पुष्प की सी मालिकाएँ हैं !

ऊपर उछाल अपने को कभी

झाँकती हैं चपल दृगों के कुछ आस-पास ;

और क्षण में ही तभी

गोता साध लेती वहीं करके मुखर हास ।[42]

'ग्वालिनें' तथा 'सम्मिलित' कविताओं में वैष्णव हृदय नाद का सौन्दर्य तथा माता वसुधा और प्रकृति का वरद रूप व्यक्त हुआ है 'अमृत' सागर-मंथन पर आधारित कविता है जिसमें कवि ने विष-अमृत का भेद स्पष्ट कर देवता और दानव दोनों को दुष्प्राप्य अमृत की खोज में संलग्न दिखाया है :

अमृत कहाँ, वह अमृत कहाँ है,

अमृत कहाँ वह हाय !

बिना अमृत के यह जीवन सब

नीरस मृतक प्राय ।

देव और दानव दोनों थे

उनके हित कृतयत्न ;

अतुल जीवनोदधि में भीतर

छिपा कहाँ वह रत्न ?[43]

'मृण्मयी' काव्य को कवि ने मानव में समदृष्टि और समन्वयात्मक बुद्धि का संचार करने के उद्देश्य से लिखा है । महान उद्देश्य को लेकर लिखी गईं ये रचनाएँ गद्यात्मक होकर भी अनुकरणात्मक हैं ।

2. ख. IX बापू :

सियारामशरण गुप्त मानवता के उपासक थे । मानवता के प्रतीक लोगों से घुल-मिलकर एकाकार होने में उनकी आत्मा तल्लीन थी । 'बापू' कविता उनकी अन्तरात्मा का संगीत है। इस रचना में वस्तुतः मानवता ही झंकृत हुई है। सियारामशरण गुप्त महात्मा गाँधी के जीवन-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे । उनके सरल हृदय पर सत्य-अहिंसा की अमिट छाप लग गयी थी । अहिंसा के अक्षांश पर दोनों की मानसिकता में काफी तालमेल था । जीवन का कुछ अमूल्य समय भी उन्होंने 'बापू' के साथ व्यतीत किया था । गाँधी जी की चिरगाँव यात्रा के दौरान ही सियारामशरण जी उन्हें कोई पुस्तक भेंट करना चाहते थे किन्तु समयाभाव के कारण वे यह कार्य पूर्ण न कर सके ।

'बापू' काव्य द्वारा उनकी वह इच्छा पूर्ण हुई । सन् 1938 ई. में प्रकाशित इस

गीतिकाव्य द्वारा गुप्त जी ने युग-पुरुष महात्मा गाँधी को अपनी श्रद्धांजलि के पुष्प समर्पित किए हैं । यह काव्य बापू के दिव्य और अलौकिक गुणों का ही आख्यान है जिनका उपयोग मानवता की रक्षा के लिए हुआ है । कवि के हृदय का विषय-वस्तु से स्वाभाविक अनुराग है। वे तत्कालीन मानव की विडम्बना को पहचानते थे । जर्जरित हिंसात्मक समाज की आधार-शिला हिल चुकी थी और मानव आत्म-विश्वास को खोता चला जा रहा था । इस बात से भी वे अनजान न थे । ऐसी विषम परिस्थिति में गाँधी-अवतार विश्व और मानवता के लिए वरदान था । गाँधी जी उनके इष्ट थे अतः इष्ट की गाथा को उन्होंने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है । मानव-विकास के क्रम में गाँधी जी का मूल्यांकन जो कवि ने किया है, वह स्तुत्य है । इस काव्य में इक्कीस उच्छवास हैं । प्रथम उच्छवास से बीस उच्छवास तक कवि ने बापू के चरित्र का गुणगान किया है । इक्कीसवें उच्छवास में बापू का गुणगान कर कवि स्वयं को तृप्त मानता है । महानायक का चरित्र कागज में ही सीमित नहीं हो सकता । वह असीमित है फिर भी कवि सन्तुष्ट है कि उसने कुछ तो किया :

मेरी गगरी भरी-भरी !
पाया, पा सकती थी जितना ;
अधिक और भरती यह कितना !
कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना ![44]

'बापू' काव्य गाँधी-दर्शन का सुन्दर निदर्शन है । मन और आत्मा तक कवि की पहुँच है और अन्तर्मन की भावनाओं को सरल भाषा में पिरोने की क्षमता है :

बहुत युगों के बाद, पूर्व-पुण्यस्थल की
आशा अहा ! आशा वह झलकी ।
देखो तो, सुनो तो धैर्य धरके

किसके उदात्त उच्च स्वर से

निर्भय, अकुण्ठित, सदा-स्वतन्त्र

गूँजा कहाँ मोहन-मधुर-मन्त्र ?

ऊर्जस्वित, सत्य के अहिंसा के अमृत से

मुक्त छल-छद्म हृदय के अनृत से ।[45]

कवि ने गाँधी जी को आत्म-दीप्त के रूप में ही देखा है । मानव की सात्विक वृत्तियो को जागृत करने में उनका सबसे बड़ा अवदान रहा है । गाँधी जी की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है -- वे श्रद्धा की प्रति मूर्ति थे । उन्होंने कर्म का मन्त्र फूँका था । भौतिक जगत् के अन्धकार में वे आध्यात्मिक प्रकाश पुंज थे, लोकद्रष्टा थे । सत्य-अहिंसा के पुजारी थे । ज्ञान की नित्य शुद्ध-बुद्ध शक्ति के प्रतीक थे :

आई आह ! मूर्ति वह हँसती

जैसे एक पुण्य रश्मि स्वर्ग से उतर के

अन्ध तमः पुंज छिन्न करके

दीख पड़ी अन्तस के अन्तस में धँसती।[46]

गाँधी जी के सत्याग्रही निर्भय रूप की झाँकी भी 'बापू' में दर्शनीय है । 'कारागार' के सम्बंध में उनकी उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं । 'कारागार' के हिंसात्मक वातावरण का विरोध करते हुए लिखा है :

भय का अवाक रोर

घोर घनीभूत हुआ उनमें जड़ित है,

एक साथ स्तम्भित है

एक मुखद्वार वह उनमें विकटकाय

जाने भर का उपाय,

वश्य उसमें से नहीं बाहर निकलना

कैसी बड़ी छलना ![47]

काव्य के अन्त में कवि मानव के पतन को देख अपना क्षोभ प्रकट करता है। स्वार्थों की पूर्ति हेतु रक्त बहते देख उनका हृदय द्रवित है । पीड़ितों के प्रति पूरी सहानुभूति है । मानव का नाश देख वे बरबस कह उठते हैं :

देखकर मानव के नीच कृत्य

उच्छृंखल नग्न नृत्य

भीतर की श्रद्धा सभी लुटती

घोर घृणा-घोर घृणा जाग-जाग उठती

मानव के ऊपर हृदय में ।[48]

सब-कुछ होते हुए भी कवि निराश नहीं है । वे आशावादी हैं । उन्हें प्रकृति तथा मानव दोनों में विश्वास है । मानव का वर्तमान जैसा भी हो गाँधी जी जैसा महामानव यदि यहाँ है तो उसका भविष्य उज्ज्वल है । यही संदेश कवि सबको देता है ।

2. ख. X उन्मुक्त :

'उन्मुक्त' कवि सियारामशरण गुप्त का प्रसिद्ध और लोकप्रिय काव्य है । यह एक सजीव गीति नाट्य है, जिसकी प्रेरणा उन्हें गाँधी जी के अहिंसावाद से मिली थी । विश्व युद्ध में जब वायुयान-वर्षा से चारों ओर निर्दोष निशस्त्र जनता पर पाशविकता का नग्न नृत्य हो रहा था, तब रोग से जर्जर कवि की दृष्टि हिंसा-ग्रस्त मानव के विश्लेषण की ओर गई । गाँधीवाद के अहिंसात्मक युद्ध के रूप को स्पष्ट करने के लिए कवि ने इस काव्य की रचना की । सन 1940 में यह प्रकाशित हुआ था । काव्य-रचना के दौरान

उनका शरीर रोग से शिथिल था, पर मन सक्रिय था । गीति नाट्य के सभी लक्षणों से युक्त यह काव्य मानव के मूलभूत सिद्धान्त और नव-समाज-निर्माण व्यवस्था को दर्शाता है। इस काव्य में द्वीपों (लौहद्वीप, रौप्यद्वीप, स्वर्णद्वीप, कुसुमद्वीप) की सुन्दर कल्पना की गई है। इसमें कोमल और कठोर दोनों पक्षों के सुन्दर चित्र विद्यमान हैं । कवि ने इसमें संवादात्मक एवं वर्णनात्मक शैली का सुन्दर प्रयोग किया है । 'उन्मुक्त' काव्य के विषय में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है -- ''उन्मुक्त में अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग, बलिदान, यातना-विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्‌भुत समन्वय हुआ है । 'उन्मुक्त' में कुसुमद्वीप एक शान्ति प्रिय नगर है । वह शान्त भाव से कला, सौन्दर्य और शान्ति की उपासना करता है, किन्तु अत्याचारी लौहद्वीप के लोग उसे युद्ध करने पर मजबूर करते हैं। कवि की दृष्टि में यथार्थ और स्वप्न का बड़ा सुन्दर सामंजस्य है । यथार्थ यह है कि कवि ने लौहद्वीप जैसे युद्ध प्रिय शक्तिशाली नगर के आक्रमण के फलस्वरूप कुसुमद्वीप जैसे शान्त कोमल नगर की होने वाली परिणतियों को बड़ी सच्चाई से प्रस्तुत किया है, उसके शौर्य और पराक्रम को सही ढंग से आंका है । मानवीय घृणा और कुरूपता को उभारा है । किन्तु इस सारे कठोर यथार्थ के भीतर से मानवीय यातना और करुणा को उभारकर मनुष्य और समाज में प्रेम तथा अहिंसा को प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित किया गया है । यथार्थ और स्वप्न दोनों के निरूपण के लिए कवि ने बहुत समर्थ और जीवन्त बिम्बों की रचना की है ।''[49]

इस काव्य में मानव के पतन की कहानी है । मानव अपना देवत्व खो चुका है, वह मानवता को भूल पिशाच बन रहा है। उसकी सारी शक्ति सैन्य-बल अर्जन में समाप्त हो रही है । विनाश तथा संहार के स्वर वसुन्धरा को कँपा रहे हैं । ऐसी विषम परिस्थिति में भी कवि आशावादी होकर लौहद्वीप रूपी हिंसात्मक विश्व को कुसुमद्वीप रूपी अहिंसात्मक

विश्व में परिणत करने का स्वप्न देखता है :

लौहद्वीप से मिला हमें नव विजय निमन्त्रण ।
प्रस्तुत हैं हम ; शौर्य सुबल हम भी रखते हैं ;
जय-पथ में भय-विघ्न कहीं भी नहीं निरखते ।
लौहद्वीप की रहे न कैसी ही रणसज्जा,
हो उसकी रणनीति निपट निर्लज्जा,
तब भी हम प्रतिरोध करेंगे साहस भरके ।[50]

कवि की मान्यता है कि प्राण देकर भी अपने देश की मर्यादा की रक्षा करना मनुष्य का धर्म है :

पावन कुसुमद्वीप, यह है हमारा ही ।
यह है हमारा, हाँ हमारा, हाँ हमारा ही ।
प्राण रहते हों रहें ; जायें यदि जाते हों
तो भी कभी जाने नहीं देंगे किसी बैरी के
हाथों में कदापि इसे । इसके निमित्त ही
तन-मन और धन अर्पित हमारे हैं ।[51]

अहिंसा परम धर्म है, परन्तु आत्म-रक्षा के निमित्त हिंसा का प्रयोग न्याय है, इसका भी प्रतिकार कवि ने किया है । आधुनिक युद्ध का एकमात्र प्रतिकार अहिंसा है क्योंकि उसी में सबका हित सुरक्षित है और विजय भी वहीं है । जिसमें सबका हित हो यही 'उन्मुक्त' का सन्देश है :

यह पीड़ा यह व्यथा मानवात्मा की सारी,
जिसका अनुभव मुझे स्वयं है अपने भीतर,

हरण कर सको, अमृत हलाहल में से पीकर

कर दूँ आओ आज तुम्हें कुसुम का टीका,

सबके हित में लाभ करो नव विजयश्री का !"[52]

गुणधर, पुष्पदन्त और मृदुला के चरित्र-चित्रण में कवि ने स्वयं को आत्मसात किया है । जीवन के कोमल क्षणों का दिग्दर्शन है । युद्ध का सजीव चित्रण है । माँ के ममतामयी रूप का चित्रण 'मृदुला' के रूप में किया है, जिसके पुत्र की मृत्यु हो चुकी है । 'उन्मुक्त' का सबसे मार्मिक एवं महत्वपूर्ण प्रसंग है सुश्रुषालय । यह रूग्ण कवि की आत्मा की अभिव्यक्ति है । अतः यह एक सुन्दर गीति नाट्य है।

2. ख. XI दैनिकी :

सन् 1942 के आस-पास विश्वव्यापी युद्ध का पूरा प्रभाव इस देश के जीवन पर पड़ चुका था । दैनिक जीवन की अनेक कठिनाइयों के बीच मनुष्य जीवन निर्वाह कर रहा था । ऐसे समय नगण्य वस्तु का महत्व भी बढ़ गया था । ऐसे ही वातावरण में कवि का ध्यान जीवन के प्रतिदिन होने वाली नगण्य घटनाओं की गम्भीरता की ओर गया और अनुपम कविताओं का जन्म हुआ, जो 'दैनिकी' में संग्रहित हैं । इस काव्य-ग्रंथ का प्रकाशन सन् 1942 में हुआ था । पचास कविताओं का यह संग्रह अन्य ग्रंथों की अपेक्षा कुछ अनूठा है । प्रायः सभी कविताएँ छोटी और विशेष घटनाओं से सम्बंधित हैं । कवि की बीमारी के दिनों का आभास भी इसमें होता है । 'रूद्धकक्ष' कविता में रूग्ण-शय्या पर पड़े प्राणी की वाणी मुखर हुई है । 'दुर्लभ' कविता का वर्ण्य-विषय है-- मानव-तन दुर्लभ है :

नये-नये इन हथियारों में,

सेना के शत प्राकारों में

जय के नये लाभ पर उत्थित

ऊँचे-ऊँचे उच्चारों में,

सब है, सब है, सब है,

जीवन चिर दुर्लभ है ।[53]

इसमें 'मनुज', 'विकट', 'नीरव', 'सजग द्वन्द्व', 'अण्डमान' आदि रोचक कविताएँ हैं । 'अण्डमान' से देश निष्कासन के स्थान पर मानवीय संकीर्णता का वर्णन किया गया है :

राष्ट्र-राष्ट्र का निष्कासन है, निज के छोटेपन में,

अण्डमान हो रहे प्रतिष्ठित देश जन-जन में ।[54]

युद्ध से विचलित, रोग ग्रस्त होने पर भी कवि के मन में कोई कुण्ठा नहीं है। वह जीवन के असंख्य क्षेत्र तक अपनी सहानुभूति का जल पहुँचाता है । अपनी करुणा को वे आकाश, पृथ्वी, पशु, पक्षी, मानव सभी में बाँटते हैं । वे जीवन-मृत्यु के संघर्ष के बीच भी निराश नहीं होते :

करना होगा नये सिरे से नव-पथ का उन्मोचन,

नहीं अगम्य विजन भी है, यदि चलूँ खोलकर लोचन ।[55]

उषा, सन्ध्या, रात्रि, अन्धकार, प्रकाश, पृथ्वी, आकाश आदि के सुन्दर चित्र इसमें मिलते हैं । इसमें करुण रस की कविताओं का भी समावेश है । 'दैनिकी' काव्य-संग्रह कवि के दैनिक जीवन की डायरी ही है।

2. ख. XII नोआखाली में :

इस काव्य का प्रथम प्रकाशन 1946 ई. में हुआ । इस काव्य-ग्रंथ में राजनीति के घात-प्रतिघातों की सात्त्विक प्रतिक्रिया का अंकन करने वाली ग्यारह कविताएँ हैं । ये रचनाएँ प्रतीक हैं -- कवि के हृदय स्थित देश के प्रति समर्पण भावना की । रूग्णता में इतनी सजीव एवं स्वस्थ रचनाओं का निर्माण कवि की आत्म-शक्ति का परिचायक है ।

'नोआखाली' स्थान पर जो अनैतिक बवण्डर उठा था उसकी पीड़ा से समूचा देश पीड़ित था । उस अनैतिकता ने सियारामशण जी को भी झकझोर दिया था :

ये घर बुझी चिताओं - से हैं,
गाँव नहीं मरघट यह है ;
जीवित दीख रहे जो उनकी
मरण-वेदना दुस्सह है ।[56]

देश-विभाजन के रक्तिम इतिहास में नोआखाली प्रकाश-तीर्थ बन चुका था । इसी का चित्रण इस 'नोआखाली' काव्य में है। कवि हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे । उस ऐक्य में कवि की दृढ़ आस्था थी :

मुसलमान ईमान समझकर
आये का आदर करता,
गाँधी है, - दुश्मन भी हो तो
उसके लिए जूझ मरता ।[57]

इस काव्य की कई रचनाओं में देश की जातीय एवं सांस्कृतिक एकता पर जोर दिया गया है । 'अखण्डित', 'मातृभूमि' में भारतीय एकता एवं अखण्डता के दर्शन होते हैं। 'रमजानी' और 'पाक-कलाम' कविताएँ तत्कालीन वातावरण को सुन्दर रूप से व्यक्त करती हैं । सामयिक मूल्य वाली ये कविताएँ गुप्त जी की प्रिय कविताएँ हैं । लोकप्रिय कविता 'एक हमारा देश' काव्य के अंत में है जिसमें कवि देश पर गर्व करते हुए कहता है :

एक हमारा ऊँचा झंडा एक हमारा देश
इस झंडे के नीचे निश्चित एक अमिट उद्देश ।[58]

2. ख. XIII नकुल :

धार्मिक वातावरण में पलित-पोषित होने के कारण गुप्त जी हमेशा धर्म-ग्रंथों के सान्निध्य में रहे । उन्हें 'रामायण' जितना प्रिय था, 'महाभारत' से उतना ही लगाव था । 'नकुल' एक प्रसिद्ध खण्डकाव्य है । इसका प्रकाशन वर्ष सन् 1947 है । इस खण्डकाव्य का आधार 'महाभारत' का 'वन-पर्व' है । 'वन-पर्व' में से अमृत-ह्रद की कथा लेकर इस काव्य की रचना की गई है । मूल वस्तु का उपयोग करने में कवि ने स्वतन्त्र दृष्टि से काम लिया है । समस्त काव्य में एक उन्मुक्त वातावरण है । प्रकृति के दोनों रूपों (आलम्बन, उद्दीपन) का चित्रण कवि ने किया है । विशाल प्रकृति की भूमिका में मानव के ईर्ष्या-द्वेष तथा पारस्परिक स्पर्द्धा का उत्पीड़न आत्मा को झकझोर देता है । इस काव्य की कथा उस समय से सम्बंधित है, जिस समय पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ बारह वर्ष का वनवास पूर्ण कर रहे थे । उसी अवधि के अन्तिम दिन में इसकी कथा शुरू होती है । इसी दिन उन्हें एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए जाना था । उसी समय एक घटना घटी । पाण्डवों के पड़ोसी एक याज्ञिक ब्राह्मण की अरणि-मथनिका को सींगों में उलझाकर एक हिरन ले भागा। उसे तपस्वी को वापिस देने हेतु युधिष्ठिर धनुष-बाण लेकर मृग के पीछे चले गए । शेष पाण्डव द्रौपदी सहित अमृत ह्रद के भ्रमणार्थ जा चुके थे । दुर्जय और ब्रजबाहु जो दुर्योधन के गुप्तचर थे उन्होंने अमृत ह्रद को विषाक्त बना दिया था जिससे पाण्डव जीवित न बचे । इस काव्य में पात्र कम हैं फिर भी कथा अबाध रूप से चलती है । 'महाभारत' की कथा के अनुरूप ही पात्रों का चयन है । मणिभद्र के माध्यम से ही युधिष्ठिर तथा नकुल के चरित्र के विकास में सहायता मिलती है । मणिभद्र अलकापुरी से निष्कासित एक यक्ष है जो अमृताचल पर कुछ समय से रह रहा है । उसके पास संजीवनी बूटी का एक ही टुकड़ा है। जिससे वह केवल एक मृतक प्राणी को जिन्दा कर सकता है । मणिभद्र युधिष्ठिर से पूछता है किसको जिन्दा किया जाए ? तो युधिष्ठिर उत्तर देते हैं -- नकुल :

नकुल - उसी क्षण अनायास कह गए युधिष्ठिर,

उत्तर उनका वहाँ प्रथम ही हो ज्यों सुस्थिर ।[59]

इस उत्तर में ही मानो कवि ने अपने काव्य की समस्त विषय-वस्तु केन्द्रित कर दी है । 'नकुल' काव्य की भावभूमि के विषय में डॉ. ललित शुक्ल ने लिखा है -- "जिस प्रकार काव्य की उपेक्षिता उर्मिला और यशोधरा का यशोगान गाया है मैथिलीशरण गुप्त ने, उसी प्रकार नकुल की पात्रता का वैशिष्ट्य अपने 'नकुल' नामक काव्य में सियारामशरण ने अंकित किया है ।"[60] कथा के माध्यम से कवि ने अपने पारिवारिक जीवन की अवचेतन ग्रंथि की ओर भी संकेत किया है । कवि ने द्रौपदी के चरित्र-चित्रण का भी कुशलता से वर्णन किया है। द्रौपदी के ममतामयी एवं रौद्र दोनों रूपों का अंकन इसमें है । तुकान्त छन्दों में रचित यह काव्य कवि की कलामयी वाणी, मूर्त, साकार विचित्र चित्रों में अभिव्यक्त और प्रतिध्वनित लघु किन्तु दृढ़ काव्य है ।

2. ख. XIV जयहिन्द :

इस काव्य का प्रथम प्रकाशन 1947 ई. में हुआ था । इस काव्य में कवि ने भारत-वन्दना की है । 15 अगस्त, 1947 के स्वतन्त्रता दिवस के पावन अवसर पर लिखी गई यह कविता कवि की उत्कृष्ट रचना है । रचना छोटी किन्तु ओजपूर्ण है । इस कविता में कवि ने स्वाधीन भारत को सम्बोधित किया है । इसमें अतीत का गौरव, वर्तमान का हर्षोल्लास तथा भविष्य की आशा के स्वर मुखरित हैं । विषय-वस्तु के अनुरूप छन्द का प्रयोग है । देश की स्वतन्त्रता से कवि प्रफुल्लित है :

भारत हे भारत, हमारे देश,

सविशेष

तेरे इस आज के अपूर्व महोत्सव में

विश्व का निमन्त्रण है ;

पायन पुरातन का नव में

तेरे घर मंगल पदार्पण है ।[61]

राष्ट्रीय ध्वज तथा देश की जनता का अभिनन्दन वे मुक्त कण्ठ से करते हैं । देश की अक्षुण्ण कीर्ति की प्रार्थना से वे काव्य का अंत करते हैं :

प्रार्थना है आज जन-जन की,

जन की न हो के यह जनता की जय हो ।

निखिल भुवन की

पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी हो अभय हो !

भारत रहे स्वतन्त्र, शुभतन्त्र,

प्रभु हे, सुरक्षित हो उसका सुधर्ममन्त्र !

उसका महात्मबल अक्षय हो,

जय हो सदैव प्रभो, भारत की जय हो ![62]

2. ख. XV अमृतपुत्र :

इस काव्य का प्रकाशन 1959 ई. में हुआ था । इसमें प्रभु ईसा के जीवन-चरित का वर्णन उनके शिष्यों द्वारा किया गया है । हिन्दी साहित्य में महात्मा ईसु पर यह प्रथम काव्य-कृति है । विनोवा भावे की चिरगाँव पद-यात्रा के अवसर पर कवि का शिशु-सुलभ हृदय श्रद्धा-भार से झुक गया था । उसी घटना से प्रभावित होकर उन्होंने इस काव्य का सृजन किया । 'अमृतपुत्र' काव्य में दो आख्यान हैं - सामरी और क्रुसधर। 'सामरी' कविता समारा प्रान्त से सम्बन्धित है । यहूदी लोग इस प्रान्त को अपवित्र

समझते थे । प्रभु ईसा ने इसी भू-भाग से अपनी यात्रा आरम्भ की थी। 'सामरी' में बैठे ईसा का सौन्दर्य अद्‌भुत हैः

कूप की इस जगत पर बैठा हुआ
एक ही है पुरुष निस्सन्देह वह,
दूर तक कोई द्वितीय नहीं यहाँ ।
स्फटिक गौर सतेज मुख-मण्डल रुचिर
दीखता है दमकता रवि ताप में,
आतपालेपन विभूषण है उसे।।[63]

तत्कालीन समाज व्यवस्था का चित्रण भी इस काव्य के माध्यम से किया गया है । अस्पृश्यता का भाव यहाँ दृष्टव्य है :

यह समारा प्रान्त इस भूभाग की
सब प्रजा अपवित्र है उनके लिए -
दर्प से जो उच्च बन बैठे स्वतः ।[64]

यह काव्य-कथा भारतीय मन के बहुत अनुकूल बैठती है । 'क्रूसधर' ईसा के जीवन की उस घटना से सम्बंधित है जिसने लाखों मनुष्यों को प्रभावित किया है । कवि ने इसमें सायमन नाम के व्यक्ति की स्वात्मक कथा के माध्यम से ईसा के महान बलिदान की गौरव गाथा अंकित की है । अन्याय के प्रतिकार एवं निर्भय आत्म-दान की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत वर्णन बहुत मर्मस्पर्शी है :

यह प्रपीड़न, यह प्रकोप, प्रहार यह,
भीड़ का औद्धत्य, उसके दुर्वचन,
ईसु सब कुछ सह रहे हैं मौन रह ।

शुद्ध चेतन रूप क्या तनुमुक्त में ?

कुछ इन्हें छिदता नहीं, गढ़ता नहीं ?

छू इन्हें भी जाये हा ! यदि यह अनय

हिंस्र नर की ही यहाँ है जीत तब ।[65]

क्रूस के भार से सम्बंधित अनेक उक्तियाँ इस काव्य में हैं । पवित्र क्रूस मानो सिसकती मानवता का प्रतीक है । अनेक यातना सहने पर भी ईसु शान्त हैं । अन्यायी के प्रति भी उनके हृदय में मानवीय करुणा व्याप्त है । शोषण करने वाले के लिए भी प्रभु से क्षमा-याचना करते हैं :

कर क्षमा उनको पिता, तू कर क्षमा ;

कर रहे क्या वे नहीं जानते ।[66]

मानव उद्धार की आस्था के स्वरों से काव्य का अन्त हुआ है । अतुकान्त छन्दों में कथा-प्रवाह अविरल रूप से प्रवाहमान है ।

2. ख. XVI गोपिका :

इस काव्य-ग्रंथ का प्रकाशन सियारामशरण गुप्त के देहावसान के बाद हुआ। उन्होंने मृत्यु से कुछ पूर्व ही इस रचना को अन्तिम रूप दिया था । कवि ने 'गोपिका' का आरम्भ लगभग बारह वर्ष पहले किया था । ग्रंथ के उपक्रम में इसकी रचना-प्रक्रिया का निर्देश कवि ने इस प्रकार किया है -- "बीज रूप में आकर गोपिका धीरे-धीरे अंकुरित हुई और दीर्घकाल तक पल्लवित होती रही । वास्तव में इसका निर्माण नहीं स्वतः प्रस्फुटन हुआ है । इसके पूरे होने पर मन में यथेष्ट सन्तोष है । पर परीक्षार्थी का कुछ आतंक भी मन में है, अच्छा ही है । परीक्षार्थी को यह भाव तभी फूटता है जब नम्रता के साथ यह

विश्वास भी हो कि मेरी अर्जन-क्षमता यहीं समाप्त नहीं हो गई और अभी भी आगे का क्षेत्र मेरे सामने है ।''[67]

गोपिका एक उद्देश्य-प्रधान काव्य है । सियारामशरण गुप्त ने यह काव्य आधुनिकीकरण के उद्देश्य से नहीं एक अत्यन्त प्राचीन भारतीय भाव-परम्परा की पुनःप्रतिष्ठा और परिष्करण की दृष्टि से लिखा है । इस काव्य के मूल में है-- पूर्ण समर्पण, अहं का विगलन और सामंजस्य दृष्टि जो समग्र विश्व के साथ अपनत्व स्थापित करके चलती है। इसलिए कवि ने 'भागवत्' के कृष्ण की जगह 'महाभारत' के कृष्ण की प्रतिष्ठा की है जहाँ राधा-कृष्ण समष्टि चेतना की लहर में राष्ट्र-नायिका और लोक नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं ।

इस काव्य का वर्ण्य-विषय है -- अपार्थिव मधुर भाव । यह अपार्थिव प्रेम भक्ति की उस सीमा पर पहुँच गया है, जहाँ कामनाएँ, द्वन्द्व और संघर्ष की स्थिति से परे स्निग्ध, सात्त्विक और तीव्र हो गई हैं । 'गोपिका' की मुख्य नारी-पात्र 'इन्दु' के व्यक्तित्व में अपार्थिव प्रेम के ये सभी आदर्श वर्णित हैं । उसका प्रेम सार्वभौमिक और सार्वकालिक है । वह व्यक्ति नहीं वह प्रतीक है -- उस सनातन प्रेम-साधना का जो ससीम को असीम बना देती है । 'गोपिका' में निशाभिसारिका, दिवाभिसारिका, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, सद्यःस्नाता आदि नायिकाओं के भी निर्मल और स्वच्छ चित्र अंकित हैं ।

इस काव्य में व्यक्त प्रेम-भावना में स्वकीया-परकीया, ग्राम्या और नागरी बालाओं का भेद मिट गया है । अनेक स्थलों पर रुक्मिणी, सत्यभामा और गोपिकाओं के प्रेम में द्विवेदी युगीन नारी-भावना के मर्यादित प्रेम का स्पर्श भी मिलता है । विरह-साधना के स्पर्शों द्वारा इस प्रेम का रूप गम्भीर एवं गरिमापूर्ण हो गया है । प्रेम की विवशता और गम्भीरता का सम्मिलित चित्रण दृष्टव्य है :

यह क्या इन्दु यह ? दृग क्यों छल-छल हैं ।

भूल मत अपना ही कहना -

मैं उनमें नहीं हूँ जो रोती है

रोना जितना था रो चुकी

सब मेरी पूर्वजाएँ हीं ।

x x x

यह एक सूखती है और वह

दूसरी सलिल में तुरन्त फूट पड़ती

यह साधना है जन्म-जन्म की

युगानुयुग कल्प की

सूखती हैं जिसमें नवीन को, चिरन्तन को,

फिर-फिर फूला-खिला देखें हम पा सकें ।[68]

'गोपिका' काव्य के प्रतिपाद्य मधुर भाव के समकक्ष और विरोध में दुर्जय और क्रूर नामक दस्युओं के अमानवीय कर्मों का भी चित्रण किया है । दुर्जय, रुक्मिणी से विवाह करने में असफल युवक है, जो कृष्ण से प्रतिशोध लेने के लिए तत्पर है । इन्दु में उसे रुक्मिणी की छाया मिलती है और वह उसे अपना बनाने की कोशिश में लग जाता है। क्रूर नामक पात्र पिता द्वारा घर से निर्वासित किए जाने के बाद दस्यु वृत्ति अपना लेता है। कृष्ण के चले जाने के बाद ब्रज के सांस्कृतिक और नैतिक पतन के मार्मिक वर्णन भी हैं :

'दस्युओं' ने स्वस्ति धाम लूट लिया

जानता हूँ उनको, वे बर्बर हैं ।

यातनाएँ कितनों को कैसी दी उल्का से

जलाये हाथ तैल-पट बाँधकर उनमें ।[69]

'गोपिका' लिखते समय कवि के मन में चम्बल घाटी के दस्युओं की समस्या स्थित थी । इस प्रकार 'गोपिका' के माध्यम से कवि ने तत्कालीन समाज का चित्रण भी किया है। अतः इस काव्य को उद्देश्य प्रधान प्रबन्धात्मक प्रतीक-रूपक कहा जा सकता है।

2. ख. XVII अचला :

सियारामशरण गुप्त के व्यक्तित्व पर स्वतंत्रता-संग्राम में भाग ले रहे महापुरुषों (महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, विनोवा भावे आदि) का भी बहुत प्रभाव पड़ा था । सन् 1954 में भू-दान यात्रा करते हुए जब विनोवा भावे चिरगाँव आये तो कवि विनोवा जी के अथक परिश्रम और उदार-चेतना से अत्यन्त प्रभावित हुए । उन्होंने तभी 'अचला' काव्य लिखने का संकल्प लिया । जब यह काव्य पूर्ण हुआ तो पता चला कि काव्य बहुत बड़ा हो गया है । इसके एक भाग को अलग निकालकर 'अमृतपुत्र' नाम दिया गया । दूसरे भाग को 'अचला' के नाम से ही जाना गया । इस काव्य में विभिन्न विषयक 18 कविताएँ संकलित हैं । काव्य का आरम्भ 'महाकाल' की वन्दना से हुआ है :

काल, तुम हे महाकाल, प्रणाम लो,
मानदण्ड नहीं हमारे पास है ।
माप लें जो हम तुम्हारा एक क्षण,
एक हिमाचल की तुला ऐसी नहीं,
तोल लें जिस पर तुम्हारा एक कण ।[70]

'गंगा के प्रति' कविता में गंगा नदी की आराधना की है । गंगा मातृ-तुल्य है जो भेद-भाव से रहित होकर सबके हितार्थ अखण्ड रूप से प्रवाहित रहती है :

सर्व पथगे, हे अखण्ड प्रवाहिणी

भेदभाव विहीन सन्तत सब कहीं

सब किसी के हित सदा समभाव से

भिन्न-भिन्न प्रकार नाम स्वरूपयुत ।[71]

'नर', 'मनुज', क्रीड़ा-सहचर', 'गृही', 'अग्रसर' आदि कविताओं में मनुज की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है । मानव इस सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी है । वह अपनी भुजाओं के बल से जल-थल सभी पर विजय प्राप्त कर चुका है । इस धरा को भी मनुज पर गर्व है :

मनुज से बढ़कर कहीं कोई नहीं,

सब कहीं उसका सहज स्वामित्व है ।

यह धरित्री और कुछ ऊँची उठी,

मनुज की विजय-ध्वजाएँ थामकर,

उड़ उठी, लहरा उठी नभ-सिन्धु में

ग्राम पुर जल-थल विजन गिरि श्रृंग पर ।[72]

'ब्रह्मबेला', 'बोधिलाभ' आदि कविताएँ कवि के ज्ञान पिपासु चरित्र के दृश्य उपस्थित करती हैं । 'प्रियदर्शी अशोक' रचना में सम्राट अशोक के हृदय-परिवर्तन का चित्रांकन है :

घोषणा है आज की मेरी यही -

विजय जो यह क्रूर संगर जन्य है,

मानता हूँ निज पराजय मैं इसे ।[73]

'नमस्कार', 'हिजरत', 'पुनश्च' आदि रचनाएँ कवि की धार्मिक वृत्ति को दर्शाती हैं। 'बाबा' कविता विनोवा भावे को लक्ष्य कर लिखी गई है । काव्य का अंत रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व की झलक से हुआ है। गुप्त जी ने गुरुदेव को अपना प्रेरणास्त्रोत माना।

उनकी जन्मशती के उपलक्ष्य में 'कविदेव' कविता को उन्होंने समर्पित किया था :

कवि ठाकुर -- कविदेव -- तात,
आनन्द शिखर गत
जनगणमन के नमस्कार तुम लो ये शत-शत !

X X X X

उसी भूमि पर जन्मशती के प्रिय अवसर पर
उतरो हे गुरुदेव, पुनः अवलोको आकर,
शती पूर्व का यह वसन्त है वही तुम्हारा,
बहे कर्म की वही तुम्हारी अविरत धारा ।।[74]

इस प्रकार 'अचला' काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है - मानव का गौरव गान। मानव सत्कार्यों से उन्नत होता है इसलिए उसे सत्कर्म प्रेरित ही रहना चाहिए ।

2. ख. XVIII फुटकर रचनाएँ :

सियारामशरण गुप्त साहित्यानुरागी थे । वे अनवरत साहित्य-सृजन करते रहे। अनेक नामधारी काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त भी उन्होंने काव्य-रचना की । ये रचनाएँ पुस्तकाकार रूप तो न ले सकीं, फिर भी ये हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं । उनकी फुटकर रचनाओं में 22 प्रमुख कविताएँ हैं । सभी फुटकर रचनाएँ उनका पाण्डित्य-प्रदर्शन करती हैं । कवि अपनी इन रचनाओं में भी समष्टि हित तथा प्राणी वर्ग के मंगल-विधान के लिए पदे-पदे चिन्तित दिखाई देता है । उनकी कविताएँ उनकी व्याकुलता को प्रकट करती हैं । फुटकर रचनाओं में 'एक बीघा' लम्बी कविता है । इस कविता का प्रतिपाद्य है -- मानव और प्रकृति का अन्योन्याश्रित सम्बंध । प्रकृति मानव की सहचरी है तो मानव ने भी अपने बुद्धि-बल से प्रकृति का सौन्दर्य बढ़ाया है :

कठिन और कठोर धरती तोड़कर

स्वेद-सिंचन से उसे दी आर्द्रता,

मृत्तिका से भिन्न-भिन्न प्रकार के

दूध के सुस्वादमय दाने दुहे ।[75]

'कृष्णा' एक गीति नाट्य है । इसमें कृष्णा नाम की राजपूत बालिका का स्वदेश प्रेम परिलक्षित है। वह अपने देश के रक्षार्थ अपने प्राणों तक का बलिदान दे देती है:

आज मैं अपने हृदय के रक्त से

वदन धोऊँगी सहर्ष स्वदेश का ।[76]

भारतीय संस्कृति से कवि को अत्यन्त मोह था । राम-सीता तथा कृष्ण-राधा के पावन देश की जितनी गाथाएँ वे गायें उतनी ही कम थीं । 'विक्रम', 'अखंडित', 'हीरक-तिथि', 'जाग-जाग', 'चरखा-गीत', आदि कविताएँ उनके स्वेदश प्रेम का दिग्दर्शन कराती हैं । भौतिकता की अंधी दौड़ में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ह्रास देख वे अन्तर्मन से रोये थे । उनका रूदन 'हमारा ह्रास' कविता में दृष्टव्य है :

पर हाय ! वह महिमा हमारी लुप्त सहसा हो गयी,

अब वह सुदुर्लभ विज्ञता हा हन्त ! सारी खो गयी ।

अज्ञान का हम में अहो फैला हुआ साम्राज्य है,

सुखदायिनी वह एकता हमसे हुई अब त्याज्य है ।[77]

बापू की हत्या से गुप्त जी को अवर्णनीय मानसिक वेदना हुई थी । व्यथा के क्षणों को वे प्रत्यक्ष प्रकट तो नहीं कर पाये लेकिन उनकी कविता 'अरे-राम' इस पीड़ा को प्रदर्शित करती है :

बापू गये सोचा तक था न कभी

देखना पड़ेगा हमें यह भी ।

खोना हमें होगा उन्हें जिनको भुवन ने

तप्त लोक जीवन ने

जीवन की विषम समस्या में

पाया था युगानुरूप कल्प की तपस्या में ।[78]

'झंडा गीत' नामक कविता ने स्वतन्त्रता संग्राम के बाद हल-चल मचा दी थी। देश के लिए मर मिटने को तत्पर हर नौजवान, बाल, वृद्ध, वनिता इस गीत के अंश को गुनगुनाते दिख पड़ते थे :

यह झंडा है तो जीवन है, जीवन में है सार,

इसकी रक्षा में न्यौछावर हम सब सौ-सौ बार ।

जब तक यह ऊपर उड़ता है गौरव का आधार

बना रहेगा ऊँचा सिर यह, सुन ले सब संसार।[79]

कवि राम के अनन्य भक्त थे । उनकी भक्ति-भावना के दर्शन 'हे राम' कविता में होते हैं । उनके राम विगत कल के राम नहीं हैं वे तो पूर्ण तथा सर्वत्र विद्यमान हैं :

विगत कल के ही नहीं हो अंश तुम,

पूर्ण तुम, परिपूर्ण तुम हे सर्वमय ।

शून्य रह सकता नहीं युग आज का

आज के अपने नये कवि को नयी

शक्ति दो..... ।[80]

इस प्रकार गुप्त जी की सभी फुटकर रचनाएँ विभिन्न विषयों तथा घटनाओं से परिपूर्ण हैं । उन्होंने तुच्छ तथा नगण्य घटनाओं को भी अपनी कविता का विषय बनाया ।

डॉ. ललित शुक्ल ने गुप्त जी के विषय में लिखा है -- ''कवि की साधना के पथ पर सभी समान थे । उसने ऐसी रचनाएँ रचीं जिनमें ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, कुलीन-अकुलीन का भेद नहीं रहा । जो चरित्र सामान्य जनता की दृष्टि में त्याज्य है, नगण्य है, उसे अपनी रचना का विषय बनाने में सियारामशरण जी के मन में कोई हिचक नहीं थी । उनके रचना-संसार में सामान्य को ही महत्त्व दिया गया है ।''[81]

निष्कर्षतः सियारामशरण गुप्त मानवता के प्रबल पोषक कवि हैं । मानववाद एक ऐसा दर्शन है, जो मानव को केन्द्र में रखकर चलता है । इसका सरोकार मानव-मूल्यों, लक्ष्यों और उसके कल्याण से है । इसी मानववाद को आधार बनाकर उन्होंने अपने काव्य का प्रणयन किया तथा अपने काव्य में मानव की समता, महानता, पौरुष, आस्था, आशा, जिजीविषा और संघर्ष का चित्रण किया है । इसके अतिरिक्त समाज के दीन-हीन, पीड़ित, शोषित वर्ग के प्रति गुप्त जी के काव्य में अदम्य संवेदना एवं सहानुभूति है । सामान्य जनों के दुःख-दर्द का चित्रण करने, साधारण निरीह दबे-पिसे, दीन-दुःखियों को अपनी करुणा का पात्र बनाने वाले सियारामशरण गुप्त सही अर्थों में मानवतावादी कवि हैं ।

संदर्भ :

1. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 2
2. वही, पृ. 4
3. वही, पृ. 17
4. वही, पृ. 19
5. वही, पृ. 21
6. सियारामशरण गुप्त : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 1
7. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 27
8. वही, पृ. 20
9. वही, पृ. 21
10. सियारामशरण गुप्त : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 52
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 538
12. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 44
13. वही, पृ. 50
14. वही, पृ. 60
15. वही, पृ. 67
16. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2): सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 627
17. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 85
18. वही, पृ. 159
19. वही, पृ. 173
20. वही, पृ. 167
21. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 627
22. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1): सं. ललित शुक्ल, पृ. 137
23. वही, पृ. 108
24. वही, पृ. 118
25. वही, पृ. 122
26. वही, पृ. 175
27. वही, पृ. 194
28. वही, पृ. 187
29. वही, पृ. 207
30. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 1) : सं. धीरेन्द्र वर्मा , पृ. 627

31.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल , पृ. 224
32.वही, पृ. 252
33.वही, पृ. 256
34.वही, पृ. 258
35.वही, पृ. 286
36.वही, पृ. 285
37.वही, पृ. 290
38.वही, पृ. 322
39.हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 627
40.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल , पृ. 324
41.वही, पृ. 323
42.वही, पृ. 354
43.वही, पृ. 361
44.वही, पृ. 423
45.वही, पृ. 397
46.वही, पृ. 395
47.वही, पृ. 403
48.वही, पृ. 407
49.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 465
50.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1): सं. ललित शुक्ल, पृ. 425
51.वही, पृ. 438
52.वही, पृ. 496
53.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 16
54.वही, पृ. 22
55.वही, पृ. 45
56.वही, पृ. 62
57.वही, पृ. 58
58.वही, पृ. 72
59.वही, पृ. 127
60.सियारामशरण गुप्त सृजन और मूल्यांकन : ललित शुक्ल, पृ. 47
61.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 138
62.वही, पृ. 144
63.वही, पृ. 147
64.वही, पृ. 147

65.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल,पृ. 165
66.वही, पृ. 167
67.सियारामशरण गुप्त : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 238
68.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 235
69.वही, पृ. 299
70.वही, पृ. 304
71.वही, पृ. 306
72.वही, पृ. 316
73.वही, पृ. 331
74.वही, पृ. 357
75.वही, पृ. 366
76.वही, पृ. 397
77.वही, पृ. 413
78.वही, पृ. 403
79.वही, पृ. 404
80.वही, पृ. 409
81.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 34

तृतीय अध्याय

साहित्य में वर्णित मानव-मूल्य

तृतीय अध्याय

साहित्य में वर्णित मानव-मूल्य

3. क वैदिक साहित्य में मानव-मूल्य :

वैदिक साहित्य का भारतीय वाङ्मय में ही नहीं वरन् विश्व साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है । वेदों की गणना विश्व के प्राचीनतम ग्रंथों में की जाती है । भारतीय परंपरा वेदों का आविर्भाव सृष्टि के आरंभ से मानती है । वेद भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन और जीवन-चिंतन के मूल अंश हैं । हिन्दू धर्म का संपूर्ण धार्मिक साहित्य वेद-ज्ञान पर आधारित है तथा 'वेद' परवर्ती भारतीय वाङ्मय के उपजीव्य ग्रंथ हैं । वैदिक वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध एवं गंभीर है । इसने प्राचीनकाल से ही भारतीय जन-जीवन, आचार-विचार, व्यवहार और साहित्य को प्रभावित किया है । वेदों की मान्यता और आदेश सर्वोपरि, अनुकरणीय और प्रमाण हैं । मनु ने वेद की निंदा करने वाले को नास्तिक कहा है -- नास्तिको वेद निन्दक।[1] आज वेदों का सम्मान उच्च दार्शनिक ज्ञान के रूप में न केवल भारत में वरन् यूरोप तथा पश्चिम के सभी देशों में होता रहा है तथा इसके महत्त्व को निर्विवाद रूप से मान्यता प्राप्त है ।

वेद : वेद 'विद्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है - ज्ञान ।[2] वेद का ज्ञान पुनीत और यथार्थ होता है । यह ज्ञान तीन प्रकार का माना गया है । इसके सम्यक् ज्ञान से मनुष्य के तीनों ताप (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) शमित हो जाते हैं । वेद चार हैं - ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद । ऋग्वेद : यह ऋचाओं वाला वेद है। इसे ज्ञान काण्ड भी कहा जाता है क्योंकि इसमें ज्ञान से सम्बंधित अधिक ऋचाएँ हैं । इसमें 10580 मंत्र हैं ।[3] सामवेद : यह प्रेम-वचन या गान का वेद है । इसे उपासना प्रधान वेद भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें उपासना से सम्बंधित मंत्र हैं । इसमें 1875 मंत्र हैं ।[4] यजुर्वेद : यह यजुः वाला वेद है । इसमें वैदिक व्यवहार (पूजन, यज्ञ, अनुष्ठान) विधियाँ

बतलायी गयी हैं । इसमें 1900 मंत्र हैं ।[5] अथर्ववेद - अथर्व ऋषि द्वारा परिदृष्ट होने के कारण इस वेद की आख्या अथर्ववेद है । इसको ब्रह्मवेद भी कहते हैं । इसमें रोग निवारक मंत्र, आयुर्वेद से सम्बंधित मंत्र तथा विज्ञान से सम्बंधित मंत्र भी हैं, इसलिए इसे विज्ञान काण्ड भी कहते हैं । इसमें 6000 मंत्र हैं ।[6]

ब्राह्मण : प्रत्येक वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रंथ हैं । ऋग्वेद से सम्बद्ध 'ऐतरेय', 'कौषीतकि'; सामवेद से सम्बद्ध 'तलवकार' यजुर्वेद से सम्बद्ध 'शतपथ', 'तैतिरीय', 'मैत्रायणी' तथा अथर्ववेद से सम्बद्ध 'गोपथ' ब्राह्मण हैं ।[7] ब्राह्मण ग्रंथों में विधि, अर्थ एवं अध्यात्म का समुचित प्रतिपादन हुआ है ।

आरण्यक : 'आरण्यक' का अर्थ है अरण्य (जंगल) से सम्बद्ध । आरण्यक शब्द को परिभाषित करते हुए भगवद्दत्त ने लिखा है-- अरण्य अर्थात् निर्जन वनों में रहकर यज्ञ-रहस्यों को प्रकट करने वाली जिस विद्या का पाठ किया जाता था, वह विद्या जिन ग्रंथों में संगृहीत एवं सुरक्षित है, उन्हें 'आरण्यक' कहा गया है क्योंकि एकांत में ही वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और अन्तर्यामी का संदेश सुनाई देता है ।[8] ब्राह्मण ग्रंथों की तरह आरण्यक भी वेदों से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद से सम्बद्ध 'ऐतरेय', 'शाङ्खायान' ; सामवेद से सम्बद्ध 'तलवकार', 'छांदोग्य' तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध 'बृहदारण्यक', 'मैत्रायणी' आरण्यक हैं। अथर्ववेद से सम्बद्ध कोई आरण्यक नहीं है । आरण्यकों में यज्ञ का विशेष महत्त्व बतलाया गया है । उनके अनुसार यज्ञ विश्व का नियामक है तथा सारा संसार यज्ञमय है ।

उपनिषद् : उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न है ।[9] उप का अर्थ है - समीप, नि का अर्थ है - निश्चय पूर्वक तथा सद् धातु का अर्थ है - बैठना । अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ है -- वह ज्ञान जिसके द्वारा परमात्मा

का सान्निध्य निश्चयपूर्वक उपलब्ध हो । उपनिषद् का एक अर्थ गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना भी है ।[10] डॉ. बलदेव उपाध्याय ने कालक्रमानुसार उपनिषद् का अर्थ बताया है-- वह सूक्ष्म ज्ञान अथवा गोपनीय-रहस्य जो हमें गुरु से प्राप्त होता है । इसका प्रयोग उस शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में भी है जिससे हमारा भ्रमोच्छेदन होकर, हमें सत्य की प्रतीति होती है।[11] भारतीय परम्परानुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी गयी है लेकिन मुक्तिकोपनिषद् में दस उपनिषदों को प्राचीन तथा प्रामाणिक माना गया है :

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड माण्डूक्य-तित्तिरिः ।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ।।[12]

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद् आदि हैं । इनके अलावा श्वेताश्वेतरो उपनिषद् को भी प्राचीन माना जाता है । अतः एकादशोपनिषद् कहकर ग्यारह उपनिषद ही मान्य हैं । इनमें आकार की दृष्टि से 'ईशोपनिषद्' लघुत्तम और 'बृहदारण्योकपनिषद्' महत्तम है । उपनिषदों का प्रतिपाद्य है -- ब्रह्म विद्या का निरूपण करना । उपनिषदें मानव-जीवन के निगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करती हैं । ये ब्रह्म, प्रकृति तथा आत्मा की गुत्थियों को सुलझाती हैं ।[13]

वेदांग : वैदिक साहित्य में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष षड् वेदांगों की गणना की जाती है । वेदांग का मूल उत्स वेद हैं और इनकी रचना का हेतु वेदों का विश्लेषण और उनके महत्त्व को प्रतिपादित करना रहा है । अतः इनका महत्त्व वेदों जैसा ही है । आचार्य पाणिनि ने एक रूपक के माध्यम से वेदांग की वेदों के समतुल्य महत्ता प्रमाणित की है तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष को वेद का अंग माना है :

शिक्षा कल्पोऽयं व्याकरणं निरूक्तं छन्दसा च यः

ज्योतिषामयनं चैव वेदांगानि षडैव तु ।[14]

वैदिक साहित्य आर्य जाति का सर्वस्व है, मानव-मात्र का प्रकाश स्तम्भ और शक्ति स्रोत है। वैदिक साहित्य का प्रकाश भारत में ही नहीं वरन् समस्त संसार में फैला और उसने मानव जीवन में व्याप्त निराशा, अज्ञान, अंधकार, दुर्विचार तथा दिशा-भ्रम को दूर किया और आज भी कर रहा है, जिससे ज्ञान, आचार, संयम और सुसंस्कृति का प्रकाश सर्वत्र फैल जाए । मनुष्य समाज का अंग है । वह व्यष्टि है तथा समाज समष्टि । समाज के हित अथवा अहित का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है । समाज की उन्नति से ही व्यक्ति की उन्नति होती है और अवनति से अवनति । व्यक्ति ही समाज का निर्माता है । अतः व्यक्तियों के उत्थान में ही समाज का उत्थान संभव है । समाज के इसी उत्थान को ध्यान में रखते हुए मानव-मूल्यों की अवधारणा अस्तित्व में आई, जो वैदिक काल से ही साहित्य में समाहित है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अमूल्य धरोहर वैदिक साहित्य ही मानव-मूल्यों का परिचय देता है और साथ ही परवर्ती साहित्य के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य भी करता है । इस साहित्य में करणीय-अकरणीय का 'ज्ञान' तथा मानवीय-अमानवीय मूल्यों की स्थापना है । इन मूल्यों से प्रेरित होकर वैदिक कालीन समाज एक आदर्श समाज के रूप में प्रतिष्ठित हुआ ।

वैदिक साहित्य में मानव-मूल्यों के रूप में अवस्थित प्रमुख मूल्य 'ऋत' है । 'ऋत' ही सार्वभौमिक सत्य को प्रतिपादित करता है । डॉ. गुलाबराय के अनुसार -- 'विश्व का परिचालन करने वाले समष्टि रूप प्राकृतिक नियम अर्थात् एकसूत्रीय परमात्म तत्त्व की अनुभूति 'ऋत' है ।[15] 'ऋत' को अचल सुख शान्ति का स्रोत माना जाता है । 'ऋत' ही व्यवस्था को बनाता है क्योंकि 'ऋत' वे नियम हैं जो नित्य और अनादि हैं । वैदिक विचारधारा में 'ऋत' एवं सत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसलिए हमेशा सत्य बोलने और

सत्य करने का आह्वान किया गया है -- सत्यं वदन् सत्यंकर्मन् ।[16] ऋग्वेद में 'ऋत' की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है -- 'ऋत' अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है तथा 'ऋत' की भावना पापों को विनष्ट करती है । इसे संपूर्ण सृष्टि की अमूर्त और मूर्त व्यवस्था का प्राण माना गया है :

ऋतस्य हि शुरूधः सन्ति पूर्वीर

ऋतस्यधीतिर्वूजिनानि हन्ति ।।[17]

मानव को कर्मण्यता और विकास के पथ पर सदा चलते रहने का उपदेश भी वैदिक साहित्य देता है । ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है :

आस्ते मग आसीनस्य उर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगतः ।।[18]

अर्थात् बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है । खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है । लेटे रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य गतिशील हो जाता है । अतः चलते रहना चाहिए । चरैवेति की शिक्षा ऐतरेय ब्राह्मण की प्रमुख शिक्षा है । 'चरैवेति चरैवेति' । चर-एव-इति, अर्थात् चलते रहो, चलते रहो । कर्मनिष्ठ जीवन ही जीवन है । ईश्वर भी कर्मठ के सहायक हैं । अथक परिश्रम बिना श्री भी नहीं मिलती । कर्मठ का ही भाग्योदय होता है । सूर्य का उदाहरण देते हुए कहा गया है -- सूर्य निरन्तर चलता है, अतः उसकी कांति अक्षय है । चतुर्युग की एक सुन्दर व्याख्या की गई है -- सोया हुआ (अकर्मण्य) व्यक्ति ही वस्तुतः कलि-युगी व्यक्ति है । सुप्तावस्था कलि है । अँगड़ाई लेता हुआ (उठने के लिए तत्पर) व्यक्ति द्वापर-युगी है । खड़ा होने वाला (किसी योजना के कार्यान्वयन के लिए कृत संकल्प) व्यक्ति त्रेता-युगी है और चल पड़ने वाला (कार्य में दृढ़ संकल्प के साथ प्रवृत्त) व्यक्ति वस्तुतः सत-युगी है ।

चतुर्युग की यह सुन्दर व्याख्या प्रत्येक मानव की प्रकृति और प्रवृत्ति का द्योतक है :

चरन् वै मधु विन्दति, चरन् स्वादुमुदुम्बरम्
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं, यो न तन्द्रायते चरन् । चरैवेति.
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
अतिष्ठन् त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् । चरैवेति.[19]

वैदिक साहित्य में मानव-मूल्यों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई देता है, जिसके कारण भारत को राष्ट्रीय स्तर ही नहीं वरन् अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ख्याति प्राप्त हुई है । इस साहित्य में समाज एवं संस्कृति का जो स्वरूप निर्धारित हुआ उसका अनुकरण परवर्ती साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है । मनुष्य समाज का अंग है । उसकी अनेक आवश्यकताएँ (शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक) होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं हो सकता । इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उसे क्रियाशील रहना पड़ता है । उसकी यह क्रियाशीलता ही उसे सामाजिक प्राणी बनाती है । अतः अनेक व्यक्तियों से उसका सम्बंध स्थापित होता है । मानव के सर्वांगीण विकास में जन्म से मृत्युपर्यन्त सामाजिकता का अपरिहार्य स्थान है । चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है फलतः मनुष्य अपने मनोरंजन और सुख-दुःखात्मक भावों को आसपास के समुदाय के साथ मिलकर अभिव्यक्त करता है, इससे सांस्कृतिक तालमेल की भी स्थापना होती है । वैदिक कालीन समाज में सांस्कृतिक पक्ष की भी अभिव्यक्ति हुई है । सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत् संस्कारों का विशेष महत्त्व है । जन्म से पूर्व ही इनका आयोजन करके जीवन को परिष्कृत करने की चेष्टा की जाती है । समाज के मूल्यों एवं उनकी धारणाओं की रक्षा करने की दृष्टि से भी इनका कम महत्त्व नहीं है । सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष की दृष्टि से प्रत्येक मानव समाज कुछ समूहों में विभक्त

होता है । इनमें व्यक्ति के व्यक्ति से सम्बंध परंपराओं से नियंत्रित होते हैं इसलिए प्रत्येक समूह के अपने आचार-विचार होते हैं। प्रत्येक मनुष्य का व्यवहार, आचार-विचार, जीवन-दृष्टि, सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की निर्मिति समाज के द्वारा ही संभव हो सकती है ।

वैदिक कालीन समाज अत्यन्त व्यवस्थित था । जिसमें मानव-मूल्यों का सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष आदर्श रूप में स्थापित हुआ । वर्ण-व्यवस्था का सुन्दर और आदर्श रूप वैदिक साहित्य में वर्णित है । वैदिक वर्ण-व्यवस्था 'कर्मणा' थी । यह गुण और कर्म पर आश्रित थी । कोई भी शिक्षा क्षेत्र चुनने वाला ब्राह्मण हो सकता था और सैन्य-सेवा से सम्बद्ध होने पर क्षत्रिय । तपोबल के आधार पर विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि माना गया और वे ऋग्वेद के वैदिक ऋषियों में मान्य हुए । वैदिक काल में चारों वर्णों में प्रेम, सद्भाव और सामंजस्य था । ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि के भाव नहीं थे । चारों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार था ।[20] वर्ण-व्यवस्था के ये भाव मानव-मूल्यों को दृढ़ कर भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बाँधकर आदर्श समाज की परिकल्पना करते हैं ।

वैदिक साहित्य में वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ आश्रम-व्यवस्था का भी वर्णन है। आश्रमों के रूप में व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बाँटा गया है -- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । वैदिक ऋषियों का मानना है कि इस संसार में उत्पन्न प्रत्येक प्राणी ऋणों से युक्त होता है इसलिए वैदिक काल में इन विभिन्न ऋणों से मुक्ति हेतु आश्रमों की व्यवस्था की गई । आश्रम-व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति हेतु वे सीढ़ियाँ हैं, जिन पर चढ़ता हुआ वह परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है । वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था ने जहाँ समष्टि के कल्याण को महत्त्व दिया, वहीं आश्रम-व्यवस्था से व्यष्टि कल्याण का अभ्युदय हुआ । इन व्यवस्थाओं ने मानव-मूल्यों को बृहत्तर रूप प्रदान किया ।

वैदिक साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। संस्कृति से बने सांस्कृतिक शब्द की निष्पत्ति संस्कार से हुई है जिसका सामान्यतः अर्थ है -- धार्मिक विधि-विधान । संस्कारों का संस्कृति से गहरा सम्बंध है । किसी भी जाति का विश्लेषण उसके आदर्शों पर ही निर्भर करता है । वैदिक काल में व्यक्ति के जीवन को सुखमय, तपोमय तथा शांतिमय बनाने के लिए उसे संस्कारित किया जाता था । ये संस्कार मानव को विकृत होने से बचाते हैं । मानव का सम्पूर्ण जीवन धार्मिक बंधनों से बँधा हुआ है । धर्म का आधार संस्कार रूप में गर्भाधान से आरम्भ होता है और अंत्येष्टि से उसका अंत हो जाता है । इसलिए मानव जीवन को स्वस्थ, शुद्ध और सफल बनाने के लिए (गर्भाधान-अंत्येष्टि) सोलह संस्कार माने गये हैं । संस्कारवान मनुष्य को ही मनु ने मानव धर्मशास्त्र का अधिकारी बताया है :

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि :

तस्य शास्त्रऽधिकारो ऽस्मिज्ञेयो नान्यस्यकस्चित् ।।[21]

भारतीय समाज धर्म प्रधान समाज है । धर्म के अन्तर्गत् पूजा, यज्ञ और तप आदि का आचरण करते हुए व्यक्ति के लिए यह निश्चित किया गया है कि वह अपना मन स्वार्थ से हटाकर परमार्थ की ओर ले जाए, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो । धर्म ने वैदिक काल से ही भारतीय समाज को प्रभावित किया है और उसे संगठित रखने में विशेष योगदान दिया है । वैदिक साहित्य में वैदिक धर्म की ही प्रधानता लक्षित हुई है जिसमें ज्ञान, उपासना, यज्ञ और कर्मकाण्ड का प्राधान्य है । वेदों के समान मनुस्मृति में भी मनु ने धर्म की सत्ता को स्वीकार किया है । मनु ने सदाचार को ही धर्म का प्रमुख अंग माना है और कहा है कि सदाचारी को ही धार्मिक कृत्यों का शुभ फल प्राप्त होता है -- आचारःपरमोधर्मःश्रृत्युक्तः स्मार्त एव च ।[22]

धर्म के अन्तर्गत् यज्ञ की प्रमुख भूमिका रही है । वैदिक काल में विविध यज्ञों का आयोजन देवताओं को प्रसन्न करने हेतु किया जाता था लेकिन शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है -- 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'।[23] वेदों में भी यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है । इसका मुख्य कारण यह है कि यज्ञ वह विधि है जिसके द्वारा प्राकृतिक संतुलन बनाए रखा जा सकता है । यज्ञ के द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा, वायुमण्डल की पवित्रता, विविध रोगों का नाश, शारीरिक एवं मानसिक उन्नति तथा दीर्घायु की प्राप्ति होती है । यज्ञ द्वारा भू-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण को दूर किया जा सकता है । वैदिक साहित्य के अनुसार यज्ञ परमात्मा की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। मानव के हृदय में एक आत्म ज्योति प्रसुप्त रूप में विद्यमान है, उस अग्नि को उद्‌बुद्ध करना यज्ञ का उद्देश्य है । इस आत्म ज्योति के उद्‌बुद्ध होने से मानव की सर्वांगीण शुद्धि होती है । उससे देह-शुद्धि, इन्द्रिय-शुद्धि, चित्त शुद्धि और आत्मा की शुद्धि होती है । यज्ञ के दो मुख्य कार्य हैं -- ।. 'स्वाहा' और 'इदं न मम' की भावना जागृत करना । स्वाहा का अर्थ है -- स्व-स्वार्थ भावना का पूर्णतया परित्याग । यही भाव 'इदं न मम (इसमें मेरा कुछ नहीं है) निष्काम भाव से कर्म करना और फलाकांक्षा का परित्याग यह यज्ञ की प्रथम शिक्षा है । 2.आत्म-समर्पण-- परमात्मा के चरणों में अपने आपको समर्पित करना । कर्म फलाशक्ति के परित्याग और आत्म-समर्पण से मानव कर्मफल के बन्धन में नहीं पड़ता । इस यज्ञाग्नि का सम्बंध मानव-मूल्य से ही है क्योंकि यज्ञाग्नि का प्रदीप्त होना मानव-हृदय में आत्म ज्योति प्रदीप्त होने का संकेत है । आत्म ज्योति के प्रदीप्त होने पर अज्ञान का आवरण क्षीण होने लगता है और चैतन्य का क्रमशः विकास होता है। चैतन्यता के विकास से ही आनन्दमय कोश की प्राप्ति होती है । परमात्मा के आनंद में लीन होना ही मानव के लक्ष्य की प्राप्ति है । वेदों में विभिन्न उद्देश्यों की

प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विधान है । इन यज्ञों में व्यक्तिगत भावना के साथ-साथ मानवीय कल्याण एवं विश्व-शान्ति की भावना ही आदर्श रूप में लक्षित होती है। विश्व-शान्ति की कामना का स्वर प्रत्येक यज्ञानुष्ठान में उच्चरित होता है :

'द्यौः शांतिरन्तरिक्षं शांतिः पृथिवी शांतिरापः
शांतिरोषधय शांतिः । वनस्पतयः शांतिर्विश्वेदेवाः
शांतिर्ब्रह्मशांतिः सर्व शांतिः शांतिरेव शांतिः
सा मा शांतिरेधि ।[24]

वैदिक साहित्य में यज्ञ की भाँति दान को भी मानव-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । दूसरों को कष्ट में देखकर मानव के हृदय में स्वाभाविक सहानुभूति उत्पन्न होती है । उस सहानुभूति के उत्पन्न होने पर जो अपने स्वार्थों पर नियंत्रण कर तन, मन, धन से दूसरों की सहायता करता है, वही दान कहलाता है । दान में देने की भावना निहित होती है । दान वस्तु में निहित आसक्ति की भावना को पूर्णतया नष्ट कर देता है । यह सर्वथा स्वार्थ रहित होता है । दान मानव आचार का अभिन्न अंग है । जिसकी प्रशंसा विधेयात्मक रूप से वैदिक साहित्य में पदे-पदे परिलक्षित होती है । ऋग्वेद में धन से संपन्न व्यक्ति को दान देने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है -- धनवान को चाहिए कि निर्धन की सहायता करे क्योंकि जीवन बहुत लम्बा है और धन की स्थिति यह है कि वह सदा किसी के पास समान रूप से बना नहीं रहता, इसलिए दूरदर्शी होकर सोचे कि कभी मेरी भी ऐसी स्थिति हो सकती है जबकि मुझे दूसरे की सहायता की अपेक्षा हो । अतः उसे दूसरे की सहायता करनी चाहिए :

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राधीयांसमनु पश्येत पन्धाम् ।
ओहिवर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।।[25]

दान देने वाले का धन कभी नहीं घटता इसलिए अथर्ववेद में लिखा है -- 'शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त संकिर'।[26] हे मनुष्य ! तू सौ हाथों वाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथों वाला होकर दान कर ।

वैदिक काल में दान के समान त्याग की वृत्ति ने भी मानव-जीवन को समुन्नत किया । त्याग में छोड़ने का भाव निहित होता है । 'यजुर्वेद' में त्याग भावना के विषय में उल्लेख है -- 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधःकस्य स्विद्धनम् ।'[27] ईश्वर द्वारा कर्मानुसार दिये हुए धन-वैभव का त्याग पूर्वक सेवन करो । कभी भूलकर भी व अन्याय से किसी के पदार्थ की आकांक्षा न करो । यह त्याग की भावना ही विश्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र में बाँधने की शक्ति प्रदान करती है । जीवन में उन्नति के लिए सद्‌गुणों को अपनाना जितना आवश्यक है उतना ही दुर्गुणों को त्यागना भी अनिवार्य हो जाता है । वैदिक साहित्य में इन दुर्गुणों को त्यागने हेतु उपदेश दिया गया है ।

वैदिक साहित्य में मानव-मूल्यों के अन्तर्गत् तप और व्रत भी प्रतिष्ठित हैं । इनके आचरण से मनुष्य की न केवल सारी कामनाओं की पूर्ति होती है वरन् व्यक्ति अपने स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर परोपकार के भी योग्य हो जाता है । वैदिक काल में तप और व्रतों की महत्ता देवताओं की प्रसन्नता का हेतु रही । वैदिक ऋषि-मनीषी तप द्वारा दीर्घायु और मेधावी होना चाहते थे -- हे प्रभो ! हम वेदों का श्रवण करते हुए, उनका मनन-चिन्तन करते हैं । इस तप द्वारा हम दीर्घायु को प्राप्त हों तथा मेधा-सुमेधा वाले हों :

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः

प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ।[28]

तप द्वारा मनस्वी अपनी दुर्भावनाओं को नष्ट करता है । तप से ही दुर्लभ की

भी प्राप्ति होती है । मानव सदैव ऐश्वर्यवान जीवन की चाहना करता है । यह ऐश्वर्य तभी सार्थक होता है जब व्यक्ति उनका भोग करता है । ऐश्वर्यों के भोग हेतु मानव को निरोगी काया चाहिए । यह काया उसे व्रतों के अनुपालन से प्राप्त होती है । व्रत के पालन से मनुष्य दीक्षित होता है । दीक्षित होने से उसे दक्षिणा (दाक्षिण्य, निपुणता) प्राप्त होती है । दक्षिणा से श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धा से सत्य रूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है :

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।[29]

इस प्रकार तप और व्रत द्वारा व्यक्ति सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होता है ।

अहिंसा मानव जीवन के लिए अत्यावश्यक है । यह एक विशिष्ट मानव-मूल्य है। अहिंसा के बल पर ही मानव पशुओं से हटकर मानव कोटि को प्राप्त करता है । मन, वचन तथा कर्म से किसी को कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है । दूसरे को कष्ट पहुँचाने से अपने को ही कष्ट होता है । इसलिए कभी किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए । ऋग्वेद में कहा गया है -- यदि कोई व्यक्ति हिंसा भाव से हमारी हिंसा करना चाहता है तो वह अपने ही कर्मों से स्वयं हिंसित हो जाता है :

यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्तेन मर्त्यः । स्वैषएवैरिरिषि षीष्टयुर्जनः।[30]

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य विश्व-कल्याण की भावना से मंडित है । वैदिक साहित्य की महिमा अपार है । वैदिक साहित्य ज्ञान का स्रोत है । विश्व को सर्वप्रथम ज्ञान देने का श्रेय वैदिक साहित्य को ही है। वैदिक साहित्य मानव-मात्र के लिए प्रकाश स्तम्भ है । जहाँ वैदिक साहित्य की ज्योति है वहाँ प्रकाश है, उन्नति है, सुख है, शान्ति है और सतत् विकास है ।

103830

3. ख लौकिक साहित्य में मानव-मूल्य :

लौकिक साहित्य संसार का समृद्ध वाङ्मय है । जब संसार के अन्य देशों में लोग आदिम अवस्था में थे, अक्षर-ज्ञान से भी रहित थे, तो हमारे आर्यावर्त में तपोधन आर्यों की ज्ञान-रश्मियाँ विकीर्ण थीं । उनके साहित्य में धर्म, अध्यात्म, जीवन, संस्कृति, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि का उत्कृष्ट रूप उपस्थित हो चुका था । संस्कृत को तो देववाणी ही कहते हैं । यह वाणी सचमुच दिव्य, जीवन के चतुर्दिक अंधकार को तिरोहित करने वाला आलोक-पुंज है ।[31] यही देववाणी है, जिसमें 'रामायण', 'महाभारत' जैसे ग्रंथ लिखे गये । यही वह संस्कृत है जिसमें आचार, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, गणित आदि का गंभीर ज्ञान संचित है । यही वह संस्कृत है जिसमें कल्पना के स्वर्णिम तारों से बुनी, नव-नव उपमाओं के फूलों से गूँथी कविकुल गुरु 'कालिदास' की अनुपम साधना है । यही वह संस्कृत है जिसमें ललित पदावली से गुंफित जयदेव का गीतिकाव्य है, बाणभट्ट की आख्यायिका तथा श्रीहर्ष का महाकाव्य है ।[32] यह उत्कृष्ट साहित्य अपनी व्यापकता, सुंदरता, गंभीरता तथा संदेशवादिता से परिपूर्ण है ।

रामायण : आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित एक प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है -- 'रामायण' । इसमें सात काण्ड, पाँच सौ सर्ग तथा चौबीस हजार श्लोक हैं :

चतुर्विंर्शत्सहस्राणि श्लोकानायुक्त वानृषि : ।

तथा सर्ग शताव्यञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम् ।[33]

उक्त श्लोक में छः काण्डों का उल्लेख है लेकिन उत्तरकाण्ड की रचना भी वाल्मीकि ने ही की है । गायत्री मंत्र में कुल 24 अक्षर हैं तथा रामायण में कुल 24000 श्लोक हैं ; इन श्लोकों में प्रत्येक हजार का पहला अक्षर गायत्री मंत्र के ही अक्षर क्रम से प्रारम्भ होता है । 'रामायण' में सात काण्ड हैं -- 1. बालकाण्ड 2. अयोध्याकाण्ड

3.अरण्यकाण्ड 4. किष्किंधाकाण्ड 5. सुंदरकाण्ड 6. युद्धकाण्ड 7. उत्तरकाण्ड । भारतीय काव्य के विकास में आदि काव्य होने साथ ही 'रामायण' समग्र मानवता के लिए उपादेय है। इसकी अमृतोपम वाणी में सौंदर्य सृष्टि का चरमोत्कर्ष एवं काव्य कमनीयता का विलक्षण दर्शन होता है । जीवन को उदात्त बनाने के लिए जिन आदर्शों को 'रामायण' में चित्रित किया गया है ; वे समग्र भारतवर्ष के लिए सुग्राह्य होने के साथ-साथ विश्व मानव समुदाय को उच्च नैतिक भावना तथा स्पृह्णीय औदार्य की प्रेरणा देते हैं ।

महाभारत : 'महाभारत' एक विश्व कोशात्मक ग्रंथ है ।[34] 'महाभारत' के प्रणेता वेद व्यास हैं। इनका मूलनाम कृष्ण द्वैपायन है । ये कृष्ण वर्ण के होने के कारण कृष्ण तथा यमुना नदी के किसी द्वीप में उत्पन्न होने के कारण द्वैपायन कहलाये । महर्षि व्यास ने कौरव-पाण्डव युद्ध को आधार बनाकर 'पञ्चमवेदाख्य' अपनी इस महत्त्वपूर्ण कृति महाभारत में सृष्टि विज्ञान, देवों की वंशावली, नीति, दर्शन तथा मानव जीवन के परम लक्ष्यभूत धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का अत्यन्त विस्तार, मनोरंजक एवं बोधगम्य शैली में वर्णन किया है । यह ग्रंथ भारतीय संस्कृति को समग्र रूप में प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ है । 'महाभारत' आदि पर्व के एक विवरणानुसार महर्षि व्यास ने अपने तीन वर्षों के सतत प्रयास से इस अनुपम ग्रंथ की रचना की :

त्रिभिवर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः

महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ।।[35]

सम्पूर्ण 'महाभारत' अठारह पर्वों में विभक्त है --

1. आदि पर्व	2. सभा पर्व	3. वन पर्व	4. विराट पर्व
5. उद्योग पर्व	6. भीम पर्व	7. द्रोण पर्व	8. कर्ण पर्व
9. शल्य पर्व	10. सौप्तिक पर्व	11. स्त्री पर्व	12. शांति पर्व

13. अनुशासन पर्व 14. आश्वमेधिक पर्व 15. आश्रमवासिक पर्व

16. मौसल पर्व 17. महाप्रस्थानिक पर्व 18. स्वर्गारोहण पर्व ।

इन पर्वों में शांति पर्व सबसे विशाल पर्व है । इसमें चौदह हजार सात सौ श्लोक हैं । महाप्रस्थानिक पर्व सबसे लघु है, इसमें केवल तीन सौ बारह श्लोक हैं।

महाकाव्य : 'रामायण' तथा 'महाभारत' के पश्चात् लौकिक संस्कृत में अनेक महाकाव्य रचित हुए । लौकिक साहित्य में प्रथम महाकाव्य की रचना महाकवि अश्वघोष ने की । उनके दो महाकाव्य हैं : 1. सौन्दरनन्द 2. बुद्धचरित । अश्वघोष ने महाकाव्यों की रचना आनन्द, मनोरंजन, संतोष तथा कला-प्रदर्शन के लिए नहीं की बल्कि विषयासक्त मोक्षविमुख लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए की । अश्वघोष के पश्चात् कालिदास ने दो प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना की - 1. रघुवंश 2. कुमारसंभव । महाकवि कालिदास कृत 'रघुवंश' को भारतीय आचार्यों ने लक्षित महाकाव्य का सर्वोत्तम निदर्शन स्वीकार किया है । 'रघुवंश' महाकाव्य में उन्नीस सर्ग हैं । इन सर्गों में रघुवंशी राजाओं का आद्यन्त सांगोपांग वर्णन है । 'कुमारसंभव' सत्रह सर्गों में विभक्त महाकाव्य है । इसकी कथा के तीन मुख्य सूत्र हैं- 1. शिव-पार्वती विवाह, 2. कार्तिकेय का जन्म, 3. कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर का वध । 'कुमारसंभव' में मानव जीवन और दिव्य जीवन, श्रृंगार और नैतिकता, काम और मर्यादा, अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति का मणि-कांचन योग हुआ है । महाकवि अश्वघोष एवं कालिदास के पश्चात् महाकवि भारवि संस्कृत साहित्य में रवि की भाँति उदित हुए । महाकाव्यों की बृहद्त्रयी में सर्वप्रथम उल्लेख महाकाव्य भारवि कृत 'किरातार्जुनीय' है । इस महाकाव्य का आधार महाभारत के वनपर्व के 26 से 46 वें अध्यायों तक का कथानक है। अठारह सर्गों में महाकवि की रमणीय वर्णन चातुर्य का चमत्कार सर्वत्र दिखलाई पड़ता है । भारवि का काव्य नीति की रत्न मंजूषा है । महाकवि ने अपने अनुभवों का निचोड़

सूक्तियों में भर दिया है । भारवि अपने अर्थ गौरव के लिए भी संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। महाकवि माघ का प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपालवध' भी महाकाव्य की बृहद्त्रयी की श्रृंखला में आता है । 'महाभारत' के सभा पर्व के तेरह अध्यायों तथा 'श्रीमद्भागवत पुराण' के चौदहवें अध्याय में वर्णित कथा के आधार पर माघ ने अपने महाकाव्य की रचना की । इस महाकाव्य में बीस सर्ग हैं । 'शिशुपालवध' महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर पूर्णतः खरा उतरने वाला ऐसा महाकाव्य है, जिसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए कम है। इसी प्रकार श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' महाकाव्य, रत्नाकर का 'हरविजय', बिल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित', कल्हण की 'राजतरंगिणी' आदि संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं ।

गीतिकाव्य : संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य का विवेचन एक ऐतिहासिक घटना है । गीतिकाव्यों में सर्वप्रथम नाम 'गीत गोविन्द' का आता है । इसके रचयिता जयदेव हैं । 'गीत गोविन्द' को गीतिकाव्य की मुकुटमणि माना जाता है । 'गीत गोविन्द' के पश्चात् कालिदास के 'ऋतुसंहार' एवं 'मेघदूत' ने गीतिकाव्यों में चार चाँद लगाए हैं । 'ऋतुसंहार' छः सर्गो में निबद्ध लघु 'गीतिकाव्य है । इसमें प्रकृति का मनोरम रूप वर्णित है । 'मेघदूत' आकार की दृष्टि से लघुकाय गीतिकाव्य है इसमें लगभग 125 श्लोक हैं । इसका एक-एक श्लोक अपने आप में पूर्ण, परिमार्जित एवं सुसंयत है । जिन्हें एक सूत्र में पिरोकर एक अनूठे कण्ठहार का रूप दे दिया गया है । इसी प्रकार अमरूक का 'अमरूक शतक', बिल्हण का 'चौरपंचाशिला', जगन्नाथ का 'भामिनीविलास', राजा लक्ष्मण सेन का 'पवनदूत', भर्तृहरि के 'शतकत्रय' आदि संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध गीतिकाव्य हैं ।

नाटक : संस्कृत-साहित्य के प्रथम नाटक के रूप में कवि भास द्वारा रचित नाटक 'प्रतिमा' का नाम सादर लिया जाता है । 'प्रतिमा' सात अंकों का नाटक है, जिसमें राम वनवास से

लेकर रावण वध तक की कथा को आधार बनाया गया है । 'प्रतिमा' के अतिरिक्त 'कर्णभार', 'स्वप्नवासवदत्त', 'उरुभंग' 'यौगन्धरायण', 'पञ्चरात्र' आदि भास के प्रसिद्ध नाटक हैं । कालिदास भी संस्कृत साहित्य के महान नाटककार हैं । उनके तीन प्रसिद्ध नाटक हैं - 1. मालविकाग्नि मित्र, 2. विक्रमोर्वशीय, 3. अभिज्ञान शाकुंतलम् । 'मालविकाग्नि मित्र' में शुंग वंशीय नृप अग्नि मित्र तथा रानी की परिचारिका मालविका का प्रेम वर्णित है । 'विक्रमोर्वशीय' का कथानक वैदिक आख्यान (ऋग्वेद 10/95) से लिया गया है । 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का कथानक 'महाभारत' के आदि पर्व से लिया गया है । इस नाटक की रचना सात अंकों में की गई है । संस्कृत साहित्य में 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' एक ऐसी कालजयी कृति है जो 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुंतलम्' जैसी अल्पार्घ अभिशंसा की अधिकारिणी नहीं वरन् जो भारतीय काव्य गरिमा, संस्कृति-सम्पदा तथा उदात्त शिक्षा प्रेरक मानस-कल्पना की त्रिवेणी की भाँति विश्व-नाट्य साहित्य में संपूज्य है।[36] भास तथा कालिदास के अतिरिक्त भी बहुत से नाटककारों ने नाटकों की रचना की है। जिनमें प्रमुख हैं -- शूद्रक का 'मृच्छकटिक', हर्षवर्द्धन के तीन नाटक 'प्रिर्यदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानंद', बिल्हण की नाटिका 'कर्णसुंदरी', भट्टनारायण का नाटक 'वेणीसंहार', विशाखदत्त का नाटक 'मुद्राराक्षस', भवभूति के तीन नाटक 'महावीरचरित', 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित', जयदेव का 'प्रसन्नराघव' । ये नाटक संस्कृत नाट्य साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं ।

गद्य-साहित्य : संस्कृत गद्य-साहित्य के मुख्यतः दो भेद किये जाते हैं - कथा और आख्यायिका । गद्यात्मक कथा साहित्य का उदय विक्रमी संवत् के चार सौ वर्ष पूर्व ही हो चुका था । गद्य साहित्य के निर्माताओं में सुबंधु, दण्डी एवं बाण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं । 'वासवदत्ता' सुबंधु की एकमात्र रचना है । इसका कथानक ऐतिहासिक न होकर

काल्पनिक है । सुबंधु ने निजी कल्पना का प्रतिबिम्ब ही इस रचना में उतारा है। 'दशकुमारचरित' दण्डी की सुप्रसिद्ध गद्य रचना है, जिसमें दस राजकुमारों के अपने-अपने पर्यटन, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन उनके ही मुख से सरस गद्य में निबद्ध किया गया है । दण्डी की यह गद्य रचना अपनी रोमांचकता तथा कौतूहल वर्द्धिनी प्रवृत्ति के कारण गद्य-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । बाण भट्ट सम्राट हर्षवर्द्धन के राजकवि थे । 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' उनकी की प्रसिद्ध गद्य-कृतियाँ हैं । 'हर्षचरित' एक आख्यायिका है । इसमें आठ उच्छ्वास हैं । प्रथम चार उच्छ्वासों में बाण की आत्मकथा है तथा शेष चार उच्छ्वासों में बाण के आश्रयदाता राजा हर्षवर्द्धन का जीवन-चरित है । 'कादम्बरी' संस्कृत साहित्य की सर्वश्रेष्ठ गद्य-रचना है । 'कादम्बरी' की विलक्षणता के विषय में कहा गया है - कादम्बरी संस्कृत गद्य साहित्य की सबसे महार्ध मणि है । कादम्बरी सचमुच कादम्बरी (मदिरा) है । जिसने इसके रस का आकंठ पान किया उसे उत्तमोत्तम आहार भी न रुचेगा -- कादम्बरी रसज्ञानम् आहारोऽपि न रोचते ।[37] इनके अतिरिक्त धनपाल की 'तिलक मंजरी', अम्बिकादत्त व्यास की 'शिवराज-विजय' आदि संस्कृत साहित्य की प्रसिद्ध गद्य कृतियाँ हैं ।

आख्यान : संस्कृत आख्यान साहित्य को दो भागों विभक्त किया गया है -- 1. नीति कथा 2. लोककथा । नीति कथा के अन्तर्गत 'पंचतंत्र' का नाम उल्लेखनीय है । पं. विष्णु शर्मा द्वारा रचित 'पंचतंत्र' संस्कृत नीति कथा साहित्य का प्रसिद्ध ग्रंथ है । इसमें पाँच तंत्र हैं -- 1. मित्र भेद 2. मित्र संप्राप्ति 3. काकोलूकीय 4. लब्ध प्राणाश 5. अपरीक्षित कारक । इसके सभी तंत्रों में कई आख्यान वर्णित हैं । इस ग्रंथ के पात्र पशु-पक्षी आदि हैं लेकिन उनमे मानवीय संवेदनाओं का अभाव नहीं है । नीति-कथाओं में 'पंचतंत्र' के पश्चात् 'हितोपदेश' ही उल्लेख्य कृति है । इसके रचयिता नारायण पंडित हैं । ये चौदहवीं शताब्दी

में बंगाल के राजा धवलचंद्र के सभा पंडित थे । 'हितोपदेश' के चार खण्ड है - 1. मित्र लाभ 2. सुहृद भेद 3. विग्रह 4. संधि । इस ग्रंथ के पद्य बड़े सरल एवं नैतिक शिक्षा से परिपूर्ण हैं:

माता शत्रुः पिता बैरी येन बालो न पाठितः ।

न शोभते सभामध्ये हंस मध्ये बको यथा ।।[38]

अर्थात् वह माता शत्रु है, वह पिता बैरी है, जिसने अपने बच्चे को नहीं पढ़ाया। मूर्ख बालक सभा में उसी प्रकार शोभित नहीं होता, जिस प्रकार हंसों के बीच में बगुला ।

लोककथा के अन्तर्गत् 'वृहत्कथा' का स्थान सर्वोपरि है । इसके प्रणेता गुणाढ्य हैं । इस ग्रंथ में अनेक लोक कथाएँ हैं ।

चम्पू काव्य : संस्कृत साहित्य का सर्वप्रथम चम्पू काव्य है यमुना त्रिविक्रम भट्ट द्वारा रचित 'नलचम्पू' । इसमें सात उच्छ्वास हैं । इसमें नल दमयंती की कथा को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । सोमाद्रभ के काव्य का नाम 'यशस्तिलक चम्पू' है । इसमें अवन्ति नरेश यशोधर की कथा वर्णित है । राजा भोज ने भी रामायण की कथा पर 'रामायण चम्पू' की रचना की । इनके अतिरिक्त अभिनव कालिदास का 'भागवत चम्पू' अनंत भट्ट का 'भारत चम्पू', कवि कर्ण कपूर का 'आनंद वृंदावन चम्पू' आदि प्रसिद्ध चम्पू काव्य हैं ।

व्याकरण : संस्कृत का व्याकरण अत्यन्त समृद्ध है । वेद के छह अंगों में व्याकरण को अति महत्त्वपूर्ण माना गया है । इसे वेद का मुख भी कहा जाता है -- 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्।' 'अष्टाध्यायी' संस्कृत व्याकरण की सर्वप्रथम रचना है । इसके रचयिता पाणिनी हैं। इसमें आठ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है । चौदह आधार शिव सूत्रों के अतिरिक्त ग्रंथ में 3983 सूत्र हैं । इन सूत्रों में संज्ञा, समास, कारक, प्रत्यय आदि का विवरण है । यह न केवल नियामक अपितु विधायक शास्त्र है । संस्कृत व्याकरण के

त्रिमुनियों में पाणिनी, पतंजलि और कात्यायन का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है । पाणिनी के सूत्रों की व्युत्पत्ति एवं सिद्धि में आने वाली कठिनाइयों के निवारणार्थ कात्यायन ने 'वार्तिकों' का निर्माण किया । कात्यायन ने 'अष्टाध्यायी' के डेढ़ हजार सूत्रों पर अपने चार हजार वार्तिकों में विचार किया । अतः पाणिनी द्वारा उक्त, अनुक्त और दुरूक्त का विवरण ही वार्तिक है । पाणिनी तंत्र के अंतिम व्याख्याता महर्षि पतंजलि हैं । कात्यायन के वार्तिकों पर भाष्य लिखने के कारण उन्हें महाभाष्यकार की उपाधि से विभूषित किया गया । उनका महाभाष्य व्याकरण शास्त्र का विश्वकोश है । पतंजलि ने पाणिनी तंत्र के चिंतन को महासागर की गहराई प्रदान की तथा व्याकरण विज्ञान को हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया । संस्कृत व्याकरण में 'काशिका' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके रचयिता जयादित्य और वामन दो वैयाकरणाचार्य हैं । 'काशिका' में पाणिनी के सूत्रों की विवेचनात्मक व्याख्या है । इसमें आठ अध्याय हैं । इस प्रकार संस्कृत व्याकरण बहुत ही समृद्ध है ।

लौकिक साहित्य सांस्कृतिक परम्परा की आधार शक्ति है । इस साहित्य की महिमा का वर्णन करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा ने लिखा है -- ''भूख और प्यास की समस्या के लिए अर्थशास्त्र है - साहित्यशास्त्र नहीं । यथार्थ के दानव को मानवता के मंदिर में देवता की भाँति कैसे पूजा जा सकता है, साहित्य यथार्थवाद से निकलने वाली प्रेरणायें ग्रहण कर लेगा और उन्हें नई दिशाएँ प्रदान करेगा, उन्हें नई शोभा से मंडित करेगा, वह जनमेजय की भाँति अयथार्थ का सर्व-यज्ञ नहीं करेगा, वरन् शंकर की भाँति मस्तक पर चन्द्र धारण करेगा और पीयूषवर्षी चन्द्र के साथ उसका समझौता करा देगा..... संस्कृत लौकिक साहित्य ने यह किया है ।[39]

संस्कृत लौकिक साहित्य का सर्वमान्य लक्ष्य यही है कि वह मानव का कल्याण करे । मानव की सर्वांगीण उन्नति हेतु इस साहित्य में मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा बृहत्तर रूप में हुई है । इस साहित्य में भी मानव का प्रमुख ध्येय आत्म-साक्षात्कार को माना गया है । मानव जीवन के उत्कर्ष की यही पराकाष्ठा है । उस ब्रह्म की प्राप्ति सृजन नहीं है उसे प्राप्त करने का उपाय है मूल्यों को धारण करना, मूल्यों को यथातथ्य जानना और कार्यान्वित करना । इन मूल्यों में प्रमुख मूल्य है -- 'सत्य' ।

'सत्य' मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण माना गया है । लौकिक साहित्य में सत्य पर बल दिया गया है । कोई कथन जैसा हो उसको उसी रूप में कहना, उसका अनुभव करना सत्य कहलाता है। इस प्रकार के व्यवहार करने वाले व्यक्ति को भी सच्चा कहा जाता है । सत्य का व्यवहार श्रेष्ठ नैतिक मूल्य है । महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है -- संसार में सत्य ही ईश्वर है । सदा सत्य के आधार पर ही धर्म स्थिर है । सत्य ही सबकी जड़ है । सत्य से बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है :

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूल्यानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदं ।।[40]

'महाभारत' में सत्य को मोक्ष मार्ग का सोपान कहा गया है -- 'सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्' ।[41] आचार्य चाणक्य सत्य के स्वरूप को दर्शाते हुए कहते हैं -- सत्य के आधार पर पृथ्वी टिकी हुई है, सूर्य सत्य के प्रताप से ही तपता है, सत्य के बल से ही वायु बहता है और सब कुछ सत्य में स्थिर है :

सत्येन धार्यते पृथिवी सत्येन तपते रविः ।
सत्येन वाति वायुश्च सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।[42]

अतः लौकिक साहित्य में सत्य को एक प्रमुख मूल्य माना गया है और मानव को इस गुण को अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है । सत्य से ही मनुष्य के अन्दर दैवी भावों का उदय होता है एवं वह देवों की समीपता प्राप्त करता है ।

लौकिक साहित्य में अहिंसा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । महर्षि पतंजलि ने यमों में अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया है, क्योंकि अहिंसा की सिद्धि के बिना उपासना सफल नहीं हो सकती । महर्षि वेदव्यास ने तो यहाँ तक कह दिया है -- अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा ही परम तप है :

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परमो दमः ।

अहिंसा परमं दानहिंसा परमं तपः ।।[43]

संस्कृत साहित्य के साहित्यकारों (कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, अश्वघोष आदि) ने भी अपने ग्रंथों में अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है । साहित्यकारों का कोमल हृदय सदा ही प्राणियों के कष्टों को देख छलनी हुआ है । मूक पशुओं के प्रति भी अहिंसा का भाव रखना चाहिए। कालिदास की ऐसी भावना, 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में परिलक्षित होती है । जब राजा दुष्यन्त मृग को मारने के लिए अपना धनुष तैयार करते हैं तभी पीछे से एक तपस्वी उनसे आग्रह करता है -- हे राजन ! यह आश्रम का मृग है । मारने योग्य नहीं। इसे न मारें : राजन ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।[44] यह सुनकर दुष्यन्त तुरन्त अपने बाण को रोक लेता है । इस प्रकार लौकिक साहित्य 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर अहिंसा को मानव-मूल्य के रूप में स्वीकार करता है ।

लौकिक साहित्य का आरंभ करुणा रूपी मानव-मूल्य द्वारा हुआ है । तमसा तट

पर विचरण करने वाले तपःपूत महर्षि वाल्मीकि ने कामासक्त क्रौंच मिथुन में मादा का व्याध द्वारा निर्मम वध होते देखा तो उनका शोक-संविग्न हृदय ही श्लोक रूप में फूट पड़ा :

मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।[45]

महाकवि कालिदास के काव्य में भी करुणा पूर्ण वातावरण की सृष्टि हुई है । राम द्वारा त्यक्त सीता की व्यथा को देखकर मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्षों ने पुष्पों को गिरा दिया, मुख में लिए हुए कुश के ग्रास को हिरणियों ने उगल दिया । सीता के दुःख में दुःखी सम्पूर्ण वन ही संतप्त हो गया :

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः

तस्याः प्रपन्ने समुदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि ।[46]

महाकवि भवभूति ने करुण रस को ही समस्त रसों की प्रकृति कहा है -- 'एको रसः करुण एव' ।[47]

साहित्य का एक प्रयोजन चतुर्दिक 'शान्ति' भी है । अतः शान्ति को मानवीय गुणों की श्रेणी में रखा जाता है । मानव-मूल्यों में शान्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रत्येक विवेकशील प्राणी शान्ति को साध्य मानता है, क्योंकि यह जीवन को बल प्रदान करती है । आचार्य चाणक्य के अनुसार - शान्ति के समान कोई तप नहीं है -- 'शान्ति तुल्यं तपो नास्ति' ।[48]

मानव जीवन की सभी अवस्थाओं और स्थितियों में उत्कर्ष के लिए त्याग भावना परमावश्यक है । इस भावना से पूर्ण होने पर ही व्यक्ति दानी तथा परोपकारी बनता है । त्यागी, दानी, परोपकारी व्यक्ति समाज में उच्च स्थान प्राप्त करता है । त्याग की भावना ने ही श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम बना दिया । श्रीकृष्ण को योगीराज कृष्ण बना दिया । महर्षि वाल्मीकि ने अपने काव्य में त्याग को उच्च स्थान प्रदान किया है । राम का सम्पूर्ण

जीवन त्याग का ही पर्याय है । पिता के वचनों के फलस्वरूप सहर्ष उन्होंने राज्य का त्याग कर दिया था । जब पिता ने राम से कहा -- हे राम ! मैं कैकेयी को वरदान देकर उसमें फँस गया हूँ । तुम मुझे गिरफ्तार करके जेल में डालकर आज ही अयोध्या के राजा बन जाओ :

अहं राघवा कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।

अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्यमाम् ।[49]

पिता जी की ऐसी आज्ञा सुन श्री राम ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया -- पिताजी ! आप सहस्रों वर्ष राजा बनकर पृथ्वी पर शासन करें । मैं तो अब वन में जाकर ही निवास करूँगा, मुझे राज्य की आकांक्षा नहीं है :

भवान वर्षसहस्त्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।

अहं त्वरण्ये वत्स्यार्मि न मे राजस्यकांक्षिता ।।[50]

लौकिक साहित्य में मानव जीवन की सर्वांगीण उन्नति हेतु दुर्गुणों को त्यागने पर भी बल दिया गया है । दुर्जन व्यक्ति को भी त्यागने में नहीं हिचकना चाहिए :

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङकृतोऽपिसन् ।[51]

त्याग के समान तप भी मानव का एक विशिष्ट मूल्य है । वाल्मीकि के राम ने भी तप किया, व्यास के कृष्ण हों अथवा पाण्डव उन्होंने भी तप किया । तप रूपी अग्नि में तपकर ही मानव अपने लक्ष्य तक पहुँचता है - 'तपो हि दुरतिक्रमम्'।[52] तप अत्यन्त प्रबल होता है । उससे कठिन से कठिन कार्य भी सहज बन जाता है । तप द्वारा मृत्यु पर भी विजय पाई जा सकती है, परन्तु तप है क्या ? एक पैर पर खड़े हो जाना, एक हाथ को ऊपर कर खड़े होना, अपने चारों ओर अग्नि जला लेना आदि का नाम तप नहीं है । तप का अर्थ है -- द्वन्द्वों को सहन करना, गरमी-सरदी, भूख-प्यास, हानि-लाभ, जीवन-मरण में

सम रहना, भयंकर आपत्ति विपत्ति आने पर भी धर्म को न छोड़ना । वाल्मीकि मानव को तपस्वी बनने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं -- यह शरीर क्षणभंगुर है । जो मनुष्य इसे पाकर तप का अनुष्ठान नहीं करता, मरने के पश्चात् जब उसे अपने कर्मों का फल मिलता है, तब वह पश्चाताप करता है :

अध्रुवे हि शरीरं यो न करोति तपोऽर्जनम् ।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृते गत्वाऽऽत्मनो गतिम् ।।[53]

प्रेम और सद्भाव से परिपूर्ण सौन्दर्य का मूल्य गौरव लौकिक साहित्य में अक्षुण्ण है । प्रेम ही वह सूत्र है, जो दो पृथक् तत्वों को संयुक्त करता है -- प्रेमैव बंधन इति भगवत्प्रेम्णै साबद्धा तिष्ठतिह्वै ।[54] आचार्य चाणक्य ने भी 'प्रेम' के विषय में लिखा है :

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेम रज्जुदृढ़ बन्धनमन्यत् ।।[55]

वाल्मीकि रामायण में प्रेम उच्चादर्श के रूप में प्रतिष्ठित है । पिता-प्रेम, माता-प्रेम, पत्नी-प्रेम, मित्र-प्रेम, भातृ-प्रेम, भक्त-प्रेम आदि प्रेम के निदर्शन हैं । राजा दशरथ का पुत्र वियोग में प्राण-त्याग करना उदात्त प्रेम का सुन्दर निदर्शन है । भरत द्वारा राज्य त्याग भी राम के प्रति अगाध प्रेम को व्यक्त करता है । बालि और सुग्रीव एक दूसरे के विरोधी थे लेकिन अपनी मरण बेला में बालि अंगद और तारा को सुग्रीव के हाथों सौंपते समय विह्वल हो उठता है :

इमां च माला माधस्त्वं दिव्यां सुग्रीव का चनीम् ।
उदारा श्रीः स्थित ह्यस्यां सम्प्रजह्यन्मो अपि ।।[56]

मृत्यु की मर्मान्तक पीड़ा प्रदान करने वाले भाई के प्रति बालि का यह

अमरत्वपूर्ण प्रेम धन्य है । इस भ्रातृ प्रेम में बालि के सभी पाप धुलकर बह जाते हैं । महर्षि व्यास ने भी महाभारत में प्रेम के विविध रूपों का चित्रण विभिन्न पात्रों के माध्यम से किया है । पाँच पाण्डवों का भ्रातृत्व प्रेम उनमें से एक है । प्रेम के फलस्वरूप ही युधिष्ठिर अपने भाइयों को मृत्यु के मुख में से भी निकालकर ले आते हैं ।

महाकवि कालिदास ने भी प्रेम के उदात्त रूप को प्रस्तुत किया है । उनका प्रेम त्याग और तपस्या द्वारा प्राप्त निर्मल और सात्त्विक है । 'कुमार संभव' में पार्वती का शिव के प्रति अगाध प्रेम दर्शाया गया है । पार्वती तपस्या द्वारा शिव की प्राप्ति करती हैं। तपस्या के साथ स्त्री और पुरुष के प्रेम के मिलन को कालिदास धन्य मानते हैं ।[57] 'मेघदूत' के यक्ष का प्रेम-संदेश भी उदात्त भावना से परिपूर्ण है ।[58] 'रघुवंश' के पात्र भी प्रेमपूर्ण धरातल पर विचरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ।[59] 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में अभिव्यक्त प्रेम तो लौकिक साहित्य का अमर प्रेम है। पुत्री की विदाई के अवसर पर कोमल हृदय पिता किस प्रकार द्रवीभूत हो उठता है इसका निदर्शन पिता कण्व के मर्मोद्‌गार में अभिव्यक्त है -- आज शकुंतला चली जायेगी, यह सोचते ही जी बैठा जा रहा है । आँसुओं को रोकने से गला इतना रूँध गया है कि मुँह से शब्द नहीं निकल रहे हैं और इसी चिंता में मेरी आँखें भी धुंधली पड़ गई हैं । जब मुझ जैसे वनवासी को इतनी व्यथा हो रही है तब इन बेचारे गृहस्थों को कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्या को विदा करते होंगे :

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया
कण्ठःस्तंभितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडंदर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषर्दुःखैनवैः ।।[60]

शकुंतला का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बंध है । वह पशु-पक्षी, लता-वृक्षादि के प्रति हमेशा सहोदर जैसा स्नेह रखती है -- हला अनुसूये न केवलं तातस्य नियोग, मयापि एतेषु सहोदरस्नेहः ।[61] वह प्रकृति से इतना प्रेम करती है कि वृक्षों को सींचे बिना जल नहीं पीती, प्रकृति प्रदत्त आभूषणों की प्रेमी होने के बाद भी वृक्षों व लताओं के पत्तों को नहीं तोड़ती । वृक्ष-लतादि में प्रथम पुष्प दर्शन के समय उत्सव मनाया करती :

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषुया ।[62]

इस प्रकार प्रेम का विशद् एवं व्यापक चित्रण लौकिक साहित्य में हुआ है । प्रेम की भावना जागृत होने पर अन्य दुष्वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और मानव मानवीय धरातल से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त करता है तथा क्षमा, मृदुता, सहानुभूति तथा सहयोग आदि मानव-मूल्यों से युक्त होकर सुखमय जीवन यापन करता है ।

प्रेम के भाव की जागृति ज्ञान होने पर ही होती है । ज्ञान से सभी सद्‌गुणों के साथ-साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है । पुरुषार्थ चतुष्ट्य को मानव-मूल्य के रूप में स्थापित करके परम तत्त्व की प्राप्ति ज्ञान द्वारा ही संभव है । लौकिक साहित्य में ज्ञान रूपी मानव-मूल्य को उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया है । ज्ञान ही मनुष्य को पशु से अलग करता है, क्योंकि ज्ञान के बिना मनुष्य की सोच एवं दृष्टि व्यापक नहीं बन पाती, उसका विवेक जागृत नहीं होता और उचित-अनुचित का भेद नहीं कर पाता -- 'नास्ति ज्ञानात्परं सुखम् ।'[63] ज्ञान से बढ़कर संसार में कोई सुख नहीं है । 'महाभारत' में आत्म ज्ञान को सबसे बड़ा ज्ञान कहा गया है -- 'आत्मज्ञानं परं ज्ञानम् ।'[64]

अतः ज्ञान प्राप्ति मानव मात्र का ध्येय होना चाहिए । वह पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं व्यवहारिक भी होना चाहिए । ज्ञान शक्ति है । ज्ञान से मनुष्य समृद्ध होता है । अंग्रेजी में कहावत भी है - ज्ञान वह पंख है जिसके द्वारा हम आकाश की ओर उड़ते हैं --

Knowledge is the using where with we fly to heaven ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है-- ज्ञानान्मुक्तिः।[65]

धर्म वास्तव में मानव जीवन के समग्र रूप को सँवारने, सुधारने व श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनाने का सर्वोच्च साधन है, किन्तु धर्म का इतिहास बताता है कि धर्म का सही रूप सामने न लाये जाने के कारण धर्म विनाशात्मक सिद्ध हुआ है । लौकिक साहित्य में धर्म का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगत होता है । कालिदास ने भी अपने साहित्य में धर्म को उच्च स्थान प्रदान किया है । उनके पात्र अपने धर्म का निर्वाह उचित ढंग से करते हैं । वे स्वयं कहते हैं -- मैं उन रघुवंशियों का वर्णन करूँगा जो यथाविधि अग्निहोत्र करने वाले, इच्छा के अनुसार यथाविधि याचकों का सत्कार करने वाले, अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले, यथा समय जागने वाले तथा जो सदा सावधान रहते हैं :

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।

यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ।[66]

अतः लौकिक साहित्य व्यक्ति को धार्मिक बनने का आह्वान करता है । मत, मजहब, सम्प्रदाय, पूजा-पाठ आदि को धर्म की संज्ञा न देते हुए शौर्य, धैर्य, शील, दया, परोपकार, क्षमा, कृपा, समता, संतोष, दान, निर्मलता, सम, यम, नियम आदि को धर्म रूपी रथ के अंग मानता है । इनमें भी सबसे ऊपर मानवता को ही श्रेष्ठ धर्म माना गया है। जिस प्रकार अग्नि का धर्म है -- ताप, उष्णता, दाहकता । यदि अग्नि में से उसका दाहकता रूपी गुण निकल जाए तो वह अग्नि नहीं रहती, उसी प्रकार मानव में मानवता रूपी धर्म नहीं है तो वह भी मृतक समान ही है । मृत व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । मोक्ष को प्राप्त करने के लिए धर्म आवश्यक है । धर्म मोक्ष का साधक है । धर्म के बिना मोक्ष की सिद्धि असम्भव है ।

धर्म द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हेतु कर्म का बहुत बड़ा योगदान है । 'कर्म सिद्धान्त' का प्रतिपादन लौकिक साहित्य के प्रत्येक ग्रंथ में किया गया है । कर्म-साधन मानव-जीवन का विशिष्ट अंग है । कर्मरत मानव सहज ही विकास-पथ पर अग्रसर होता है । मानव द्वारा करणीय -- अकरणीय कर्मों का समुचित निदर्शन इस साहित्य में है । सत्कर्म का फल सुख है, दुष्कर्मों का फल दुःखों के रूप में प्राप्त होता है । कृत कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है इसलिए ये ग्रंथ शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं :

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।

कृतं फलन्ति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित ।।[67]

सदैव सुकर्म ही करने चाहिए । दुष्कर्म करने वाले को न तो जन समाज में सुख मिलता है न वन में । जन समाज में मनुष्यों का संसर्ग उसे जलाता है और वन में एकाकी रहने के कारण वह दुःखी रहता है :

अनवस्थितकार्यस्य न जने न वने सुखम् ।

जने दहदि संसर्गो वने सङ्गविवर्जनम् ।।[68]

कर्म संस्कार छाया के समान व्यक्ति के पीछे लगा रहता है । अतः व्यक्ति को सोच विचार कर ही कर्म करने चाहिए :

'करोति कुर्वतः कर्म च्छायोवानुविधीयते ।[69]

लौकिक साहित्य का उद्देश्य मानव का कल्याण कर उसमें मानव-मूल्यों को परिवेष्टित करना है। व्यष्टि कल्याण के साथ-साथ समष्टि कल्याण की भावना भी लौकिक साहित्य में पाई जाती है । अपने शत्रु के प्रति भी उदार मना कैसे होते हैं यह हम 'रामायण' से सीख सकते हैं -- रावण को मारकर श्रीराम विभीषण से उसका दाह संस्कार करने के लिए कहते हैं । विभीषण के आना कानी करने पर वे कहते हैं -- जब तक

मनुष्य जीता है तभी तक उसके साथ बैर होता है । रावण मर गया, अतः उसके साथ बैर भी समाप्त हो गया । हमारा प्रयोजन नारी जाति का उद्धार भी पूर्ण हो गया । अब तुम इसका दाह-संस्कार करो । यह जैसा तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी भाई है :

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ।।[70]

इसी प्रकार कालिदास के 'रघुवंश' से दानशीलता तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' से उदात्त प्रेम की शिक्षा ले सकते हैं । भारवि की नीति तो भवभूति की करुणा । विशाखदत्त का त्याग तथा श्रीहर्ष की कर्त्तव्य शिक्षा आदि मूल्य लौकिक साहित्य में अंकित हैं । अतः इन मूल्यों के सही अनुसरण से वर्तमान समाज, राज्य, राष्ट्र, विश्व को सही दिशा प्राप्त हो सकती है ।

3. ग हिन्दी साहित्य में मानव-मूल्य :

हिन्दी साहित्य में मानव-मूल्य अत्यन्त विशिष्ट प्राण-तत्त्व के रूप में व्याप्त है। साहित्यकार अपने युग, परिवेश एवं देश के प्रति सचेत होकर मूल्याभिव्यक्ति करता है । प्रत्येक साहित्यकार पर तत्कालीन परिवेश और मान्यताओं का प्रभाव पड़ता है जिसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य में दृष्टिगत होता है । इतर शब्दों में यदि साहित्य का स्रष्टा मानव है तो मानव का चित्रण करना ही साहित्य का उद्देश्य है । साहित्य के द्वारा ही मानव-मूल्यों को अभिव्यक्ति मिलती है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि -- ''मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके जो उसकी आत्म को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।''[71] ''साहित्य में मूल्यों के महत्व में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो

अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्य अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है।''[72] साहित्य का मानव जीवन से चिरंतन एवं घनिष्ठ सम्बंध है । यह सम्बंध हिन्दी साहित्य में भी देखा जा सकता है जहाँ परम्परा तथा युगीन परिवेश दोनों ही मूल्यों को समाहित कर साहित्य महान प्रतिभाओं से निरन्तर परिचय करता आया है तथा रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों का खण्डन कर मानवीय मूल्यों की स्थापना करता रहा है ।

आदिकाल हिन्दी भाषा और साहित्य के नव-निर्माण का काल था । हर क्षेत्र में मानक रूपों की खोज अपेक्षित थी । किन्तु इसका आरम्भ ही ऐसे वातावरण में हुआ जो देश के लिए बिल्कुल नया और अस्तित्व भंजक था । इस्लामी जेहाद का उद्घोष चहुँ ओर व्याप्त था । हिन्दू राजा अपने-अपने राज्यों की रक्षा में लगे हुए थे । गजनी-गौरी के आक्रमणों ने राजपूतों को शिथिल कर दिया था । राजपूतों को अपने गौरव की ही चिन्ता थी। देश के गौरव से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। उनमें वीरता थी किन्तु वह वीरता का कोष गृह-कलहों के कारण समाप्त प्राय हो गया । मुसलमानों के पैर यहाँ जम गये । उन दिनों कन्नौज, दिल्ली, अजमेर आदि राजधानियाँ ही प्रधान क्रिया स्थली थीं । इस काल में वीरगाथाओं का प्रणयन ही अधिक हुआ । ''साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है । इसी नियम के अनुकूल तत्कालीन साहित्य में वीरता की छाप पड़ी ।''[73] ये कवि सिर्फ कवि न थे, योद्धा भी थे । वे एक हाथ में लेखनी और दूसरे में तलवार पकड़कर अपने आश्रयदाताओं के साथ युद्धों में सक्रिय भाग लेते थे । चारण कवि अपनी ओजस्वी वाणी और वीर रस पूर्ण कविताओं द्वारा राजाओं को देश, धर्म, जाति और सम्मान की रक्षा के लिए लड़ने को प्रेरित करते थे । आदिकालीन काव्य में मानव-मूल्य भी किंचित रूप में उपलब्ध हैं । अतः इस काल में केवल वीरगाथाओं से युक्त काव्यों की ही रचना हुई ।

युद्ध भूमि का जो चित्रण चन्दबरदायी ने किया है वह बिल्कुल ही सजीव प्रतीत होता है :

चतुरंग सेन सजि बर प्रमान । सिंधुरन ब्रह्म चढि चाहुआन ।।

षोलि किपाट बार मुगति रूप । सोभेस पूत अबधूत भूप ।।[74]

जगनिक ने भी वीरता की हुँकार भरते हुए लिखा है :

बारह बरिस लैं कूकर जीएँ, और तेरह लै जीएँ सियार ।

बरिस अठारह क्षत्री जीएँ, आगे जीवन को धिक्कार ।।[75]

'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह ने भी वीरों को उद्‌बोधित करते हुए कहा है :

कड़वा बोल न बोलिस नारि ।

तुं मो मेल्हसी चित विसारि ।।

जीभ न जीभ विगोयनो ।

दब का आधा कुपली मेल्ही ।।[76]

नारी के रूप-चित्रण में शृंगारिकता का जो पुट आदिकाल में प्राप्त होता है वह चंद कवि ने शशिव्रता के यौवनागमन को बसंत से उपमित किया है :

पत्त पुरातन झरिग । पत्त अंकुरिय उट्‌ठ तुछ ।।

ज्यो सैसव उत्तरिय । चढ़िव वैसव किसोर कुछ।।

शीतल मंद सुगंध । आइ रीतिराज अचान ।।[77]

प्रेम के अद्‌भुत रूप का चित्रण विद्यापति की पदावली में मिलता है :

सखि कि पुच्छसि अनुभव मोय ।

से हो पिरीति अनुराग बखानइते तिले तिले नूतन होय ।

जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल ।

सौइ मधुर बोल भुन नहिं सुनल श्रुति पथे परश न गेल ।।[78]

हिन्दी साहित्य का आदिकाल प्रणयन की दृष्टि से संक्रमण का काल है। इस काल के काव्यों में मानव-मूल्यों को कम प्रश्रय मिला फिर भी वीरता, शृंगारिकता और प्रेम रूपी मूल्यों के वर्णन में ये काव्य अग्रणी हैं ।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल लड़ाई-झगड़े का युग था । उसमें अशान्ति थी और राजनीतिक आँधी चल रही थी । राजपूतों की समाप्ति के साथ ही उनकी वीरता के गुणगान भी समाप्त हो गये । वीरगाथा कालीन वीर भावना का वर्णन करने वाले कवियों की प्रवृत्ति ही न रही । मुसलमानों का अत्याचार बढ़ा । कवियों का राज्याश्रय लुप्तप्राय हो गया । इसलिए राज दरबार से निकलकर कविता कुटियों में रहने वाले साधु-संतों की आश्रित बनी । राजाओं के वीर गान के स्थान पर भगवद् गान होने लगा । साथ ही अनेक कवियों ने सामाजिक ऊँच-नीच, जातिगत भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठानी आरम्भ कर दी। मृत प्राय हिन्दू जाति में नवीन संचार आरंभ किया । भक्त कवियों का आश्रय पाकर भारतीय आध्यात्मिक कविता की धारा जो वीरगाथा कालीन संघर्षपूर्ण वातावरण में दब गई थी, शान्त वातावरण पाकर पुनः उभरने लगी । अतः इस काल के कवि हिन्दी के ही नहीं वरन् भारत भर के सिरमौर बन गए।

भक्तिकालीन कवियों ने लुप्तप्राय मानव-मूल्यों की पुनःस्थापना के लिए कटिबद्ध होकर काव्य-प्रणयन किया । इन कवियों में उल्लेखनीय हैं -- ज्ञानदेव, नामदेव, नरसी मेहता, कबीर, दादू, नानक, रैदास, जायसी, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, रसखान आदि। ये कवि तत्कालीन जनता से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहे हैं तथा सभी ने अपने काव्य में मानवीय गुणों का समावेश किया है। ''भक्ति साहित्य में भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है । भक्ति-काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उस में उच्च कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस

है, उसका शरीर मानवीय है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है । यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है । यह साहित्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है।''[79] भक्तिकालीन कवियों के काव्य में मानव मूल्यों की बृहत्तर रूप में प्रतिष्ठा हुई है। इन मूल्यों में प्रमुख हैं -- ईश्वर-भक्ति, गुरु-महिमा, भक्ति-भावना, सत्संग, सत्य, अहिंसा, प्रेम, अहंकार - त्याग, आडम्बर - विरोध, समन्वय-भावना आदि ।

भक्तिकालीन कवियों की ईश्वर में अटूट आस्था थी । किसी ने ईश्वर को निर्गुण माना तो किसी ने सगुण । इनका उद्देश्य एक ही था -- ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना। सन्त कवि निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखते हैं । कबीर के ईश्वर घट-घट व्यापी हैं, उसे बाहर ढूँढना व्यर्थ है :

कस्तूरी कुण्डलि बसै मृग ढूढ़ै बन माँहि ।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाहीं ।।[80]

तुलसी ईश्वर के सगुण रूप के पक्षधर हैं । यह सृष्टि ईश्वर पर ही अवलम्बित है, इसलिए उसका नाम अवश्य जपना चाहिए अन्यथा इस भव-सागर को पार करना मुश्किल होगा :

राम कहतु चलु, राम कहतु चलु, राम कहतु चलु भाई रे ।
नाहि तौ भव-बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे ।।[81]

भक्तिकालीन कवियों की दृष्टि में गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है । गुरुओं का आदर सभी को करना चाहिए क्योंकि गुरु ही ईश्वर से मिलवाने का एकमात्र माध्यम है, इसलिए गुरु नाम स्मरण को मानव मूल्य के अन्तर्गत् स्वीकार किया गया है । कबीर ने गुरु को गोविन्द से श्रेष्ठ बताया है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँए ।

बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ।।[82]

जायसी गुरु को मार्ग दर्शक मानते हैं :

गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।[83]

तुलसी गुरु के बिना संसार रूपी भव-सागर को पार करना असम्भव मानते हैं

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई ।[84]

भक्तिकालीन कवियों में भक्ति-भावना कूट-कूट कर भरी है । कोई सगुण ईश्वर की तो कोई निर्गुण ईश्वर की भक्ति करता है । उनके लिए भक्ति के समक्ष मोक्ष भी तुच्छ है । भगवान की भक्ति एवं प्रेम का उद्देश्य ही उसकी निकटता प्राप्त करके उसमें रमण करना तथा उनकी लीलाओं में अपने आपको लीन करना है । कबीर ने भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन माना है । संसार के दुःख-शमन का भी साधन प्रभु-भक्ति ही है :

भाव भगति बिसबास बिन, कटै न सँसै मूल ।

कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल ।।[85]

तुलसी ने भक्ति के विषय में लिखा है :

भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृजि मूल अविद्या नासा[86]

भक्तिकालीन कवियों ने सत्संगति पर बहुत बल दिया है। मनुष्य जैसी संगति में बैठता है, उस पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है । यदि वह अच्छी संगति में बैठेगा तो उस पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और बुरी संगति में बैठेगा तो बुरा प्रभाव पड़ेगा, इसलिए कबीर कहते हैं सत्संगति से सुबुद्धि प्राप्त होती है :

कबीरा संगति साध की, बेगि करीजै जाइ ।

दुरमति दूर गँवाइसी, देसी सुमति बताइ ।।[87]

सूरदास कहते हैं सज्जनों के सहवास से सांसारिक दुःख दिन-प्रतिदिन नष्ट होते जाते हैं :

संगति रहैं साधु की अनुदिन भव दुःख दूरि नसावत् ।

सूरदास संगति करि तिनकी जे हरि सूरति करावत् ।।[88]

सत्संग द्वारा सत्य के स्वरूप का ज्ञान होता है । सत्य सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक मानव-मूल्य है, इसलिए भक्तिकालीन कवि निरन्तर सत्य की खोज में लगे रहे । यथार्थ वचन को सत्य कहते हैं । तुलसीदास ने सत्य को अन्यतम धर्म कहा है :

'धरमु न दूसर सत्य समाना'।[89]

सत्य ही सम्पूर्ण पुण्यों का फल है :

सत्यमूल सब सुकृत सुहाये ।

वेद पुरान विदित मनु गाए ।[90]

रहीम कहते हैं सज्जन लोग अपने प्राणों की आहुति देकर भी सत्य की रक्षा करते हैं:

रहिमन पर उपकार के, करत न पारै बीच ।

माँस दियो सिवि भूप ने, दीनों हाड़, दधीच ।[91]

सत्य के प्रति आस्था होने पर मानव के हृदय में अहिंसा के भाव जागृत होने लगते हैं । अहिंसा रूपी मानव-मूल्य का वास होने पर व्यक्ति परोपकारी बनता है। किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है । शास्त्रों में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है । भक्तिकालीन काव्य में अहिंसा का व्यापक प्रसार हुआ है । कबीर कहते हैं बल प्रयोग कर जीव-वध करना हिंसा है । ईश्वर भी हिंसा का हिसाब माँगते हैं :

जोरी किया जुलम है, माँगै न्याब खुदाइ ।

खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहि खाइ ।।[92]

तुलसीदास कहते हैं :

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा ।[93]

भक्तिकालीन कवियों ने प्रेम को मानव-मूल्य के रूप में स्वीकार करते हुए प्रेम में ईश्वर की स्थापना की है । सत्य-अहिंसा आदि मूल्यों को अपनाने के बाद मानव हृदय में प्रेम का संचरण होता है । लौकिक धरातल पर यह प्रेम दो आत्माओं का मिलन भी माना जा सकता है । मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम की भी आलम्बन भेद के कारण अनेक कोटियाँ संभव हैं । यथा माता-माता का सन्तान विषयक प्रेम, गुरु और शिष्य का प्रेम, युवकों तथा युवतियों का प्रेम आदि ।

सन्त-काव्य में मुख्यतः अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना हुई जिसे रहस्यवाद की संज्ञा दी गई है। प्रेम का मार्ग अति कठिन है । यह बाड़ी में भी नहीं उगता और न हाट में बिकता है । इसको चाहने वाले को सीस तक कटवाना पड़ता है :

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।

राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय ।।[94]

सूफी मत में प्रेम ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन है । यह प्रेम इश्क मिजाजी से इश्क हकीकी की ओर उन्मुख होता है । सूफियों ने ईश्वर की नारी के रूप में और साधक की पुरुष के रूप में कल्पना की है । प्रेम-मार्ग अति जटिल है इसी जटिलता का परिचय देते हुए जायसी कहते हैं :

सखी एक तेइ खेल न जाना ।

भै अचेत मनि-हार गँवाना ।[95]

सूरदास प्रेम की अलौकिकता के प्रतिपक्षी हैं । उन्होंने श्रृंगार रस की विश्व व्यापक भावभूमि को भक्त की उच्चतम भव्यता प्रदान करके उसे उज्ज्वल रस की संज्ञा से विभूषित किया है । उनके शैशव का प्रेम यौवन के माधुर्य रस में परिणत हो गया है । प्रेम का पूर्ण निर्वाह लोक, समाज और शास्त्र की अवहेलना में है न कि उनकी मर्यादाओं के पालन में :

प्रेम प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पाइए ।
प्रेम बन्ध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिए ।।
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल ।
साँचो निश्चय प्रेम को, जहिरै मिले गोपाल ।।[96]

डॉ. जॉर्ज ग्रियर्सन ने भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहा है । उनकी दृष्टि में हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है । वस्तुतः निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है ।[97]

साहित्य समाज का दर्पण है । जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके ऊँच-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसकी ऐतिहासिक घटनाओं और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिलता है तो उसके साहित्य में ही । सामाजिक शक्ति या सजीवता अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है ।[98] वस्तुतः रचनाकार जिस परिवेश में जन्म लेता है तथा पोषित होता है उसके संस्कार एवं भाव परोक्ष रूप से उसमें आ जाते हैं । रीतिकालीन कवि भी तत्कालीन समाज से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जुड़े रहे हैं तथा अपने काव्य में मानव-मूल्यों का यथासंभव समावेश भी किया है । उन मूल्यों में

सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अन्तर्गत् वर्ण-व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, नारी के प्रति दृष्टि, प्रेम, शिक्षा, शपथ, संस्कार आदि मुख्य हैं । धार्मिक एवं दार्शनिक मूल्यों में तप,यज्ञ, दान, देवी-देवताओं का स्मरण, सत्संग, प्रायश्चित-विधान, सुख-दुःख एवं मृत्यु सम्बंधी मान्यताएँ मुख्य हैं ।

रीतिकाल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप वैदिक काल से भिन्न था । हिन्दू संस्कृति में वर्ण-व्यवस्था गुण तथा कर्म के आधार पर आरंभ हुई थी, इसका निर्माण लोकमंगल की धारणा पर हुआ, किंतु धीरे-धीरे यह व्यवस्था पतनोन्मुख और विकृत होती गई । कवि वृन्द के अनुसार मनुष्य प्रत्यक्ष में अच्छा होना चाहिए वर्ण आदि में क्या रखा है :

परतछ जीके देखिए कहा बस को उताहि ।[99]

बोधा ने अपने काव्य में 18 वर्ण के लोगों की चर्चा की है । प्रत्येक वर्ण की व्यवस्था हेतु कार्य-विभाजन भी बताया है :

तीयन हरदी तेल चढ़ायो । नगरमध्य नाऊ फिरवायो

बरन अठारह सब पुरवासी । पंगत बैठी देव सभा सी ।।[100]

केशवदास ने भी चार वर्णों की चर्चा 'रामचन्द्रिका' में की है :

पंडितगण मंडित गुण दंडित मति देखिए ।

क्षत्रियवर धर्म प्रवर क्रुद्ध समर लेखिए ।

वेश्य सहित सत्य रहित पाप प्रगत मानिए ।

सूद्र सकति विप्र भगति जीव जीव जगत जानिए ।[101]

रीतिकाल के अधिकांश कवि राजाश्रयी थे । लोक जीवन से निकटता कम थी फिर भी ग्रामीण परिवारों में झाँक लेते थे । सम्मिलित परिवार का भी उल्लेख इनके काव्यों में मिलता है । देवर भाभी के सम्बंधों की चर्चा बिहारी करते हैं :

कहति न देवर की कुबत, कुल-तिय कलह डराति ।

पंजर-गत मंजार-ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति ।[102]

बोधा ने भी संयुक्त परिवार का वर्णन किया है जहाँ ग्रामीण नायिका को घर के सदस्यों का डर है । वे उसे खरी-खोटी सुनाएँगे :

खरी सासु घरी न छमा करि है निसि बासर त्रास नहीं मरबी ।

सदा भौंहे चढाएँ रहै ननदी यों जेठानी की सुनें जरबी ।।[103]

इस प्रकार पारिवारिक मूल्यों के चित्रण में रीतिकालीन कवि सिद्धहस्त थे ।

रीतिकाल में सामंतवाद का बोलबाला होने के कारण सामंतशाही के समस्त दोषों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जन-जीवन पर भी पड़ना स्वाभाविक था । समस्त व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी । समाज में नारी की दशा शोचनीय थी । "नारी को सम्पत्ति मानकर ही उसका भोग इनके जीवन का मूल मंत्र हो गया था ।"[104] रीतिकालीन दरबारी कवि नारी की अंतश्चेतना का स्पर्श न कर पाए फिर भी उन्होंने नारी को तीनों गुणों से युक्त माना है :

सुनहु भोज ब्रजराज की सखी तीन विधि जान

प्रथम सात्वकी राजसी फिर तामसी बखान ।[105]

बिहारी ने नारी को सौन्दर्य युक्त प्रेम की प्रतिमूर्ति माना है :

प्रिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।

आपु आपु ही आरसी लख रीझति रिझवारि ।।[106]

प्रेम प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकता है । मानव जीवन की सुख दुःखात्मक मनोवृत्तियों में से प्रेम का सम्बंध सुखद अनुभूतियों से ही रहता है । अतः प्रेम

वह सुखद अनुभूति कही जा सकती है -- 'जो किसी व्यक्ति या अन्य जीव या पदार्थ के सौंदर्य गुण, शील सामीप्य आदि के कारण उत्पन्न होती है ।''[107] साहित्य में प्रेम-गाथाओं की सुदृढ परम्परा प्राप्त होती है । इनका मुख्य आधार कोई न कोई प्रेम-कथा होती है । इस कथा में लोक-तत्त्व की प्रधानता होती है । देव कवि ने शुद्ध प्रेम का उत्तम वर्णन किया है :

सुख दुःख में है एक सम, तन मन वचन प्रवीत

सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सप्रेम सप्रीत ।[108]

बिहारी के अनुसार प्रेम वह उदात्त भाव है जिसमें डूबकर मनुष्य इस लोक के बन्धनों से पार हो जाता है :

तंत्री-नाद कवित्त रस, सरस राग रति-रंग ।

अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ।।[109]

बोधा ने प्रेम के मार्ग को कमल की नाल से भी क्षीण तथा तलवार की धार पर दौड़ने के समान बताया है :

अति छीन मृनाल के तारहु ते तिहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।

सुइ ते द्वार सकीन तहाँ परतीत को ताड़ो लदावनो है ।

कवि बोधा अनी धनी नेजहु ते चढ़ि तापे न चित्त डगावनो है ।

यह प्रेम को पन्थ कराल है जू तलवार की धार पे धावनो है ।[110]

रीतिकालीन समाज में शिक्षा की व्यवस्था थी यह पुष्टि तद्युगीन साहित्य से हो जाती है :

पंचम वर्ष जानि बिहात । तब व्रत बंध कीन्हों तात

कछु दिन विप्र अपने गेह । पढ़िवे को कियो अति नेह ।।[111]

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में विश्वामित्र के साथ उनके शिष्यों को अयोध्या जाते दिखाया है :

संग लिए ऋषि सिष्यन घने

पावक से तपतेजनि से ।[112]

शपथ के विषय में भारतीय व पाश्चात्य सभी विद्वानों की मान्यता समान है कि शपथ लेकर कोई असत्य नहीं कहेगा । समाज में शपथ देकर कही गई बात का निर्वाह अवश्य किया जाता है । प्राण को जीवन का आधार तथा वचन को जीवन का आधेय मान कर बोधा ने लिखा है :

स्वासा सार शरीर वचन लौ क्षितिपति राचा ।[113]

शपथ का वर्णन बिहारी ने भी किया है जहाँ राधा कृष्ण की शपथ खाकर मुरली न होने की भावना व्यक्त करती है :

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाई ।

सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाय ।।[114]

परिवार में, समाज में किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन भी रीतिकालीन कवियों के काव्य में उपलब्ध है । संस्कारों के प्रभाव स्वरूप ही मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पवित्रता एवं रमणीयता को जीवन में स्थान देता है और मस्तिष्क में अद्‌भुत विचारों को विकास की दिशा प्रदान करता है, साथ ही समाजगत आचरण को व्यवस्थित करने में भी सहायता मिलती है । रीतिकालीन कवियों ने सोलह संस्कारों का वर्णन तो नहीं किया, किन्तु कुछ संस्कारों का वर्णन कर समाज में इनकी व्याप्ति दर्शायी है । बोधा ने उपनयन संस्कार को व्रत बंध लिखकर उसका वर्णन किया है :

पंचम वर्ष जानि विहात । तब व्रत बंध कीन्हों तात् ।[115]

परिवार समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है जिसका ढाँचा विवाह के स्तम्भ पर खड़ा है, क्योंकि इसके उपरान्त ही व्यक्तिगत स्तर पर ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की स्वीकृति मिलती है जिसमें पारिवारिक व्यवस्था अधिक संगठित तथा व्यवस्थित बनती है । यह मानव जीवन का अति विशिष्ट संस्कार माना जाता है । राम-सीता के विवाह संस्कार का सुन्दर चित्र 'रामचन्द्रिका' में प्राप्त होता है :

सब भाँति प्रतिष्ठित निष्ठमति तहँ वशिष्ठ पूजत कलस ।
शुभ सतानंद मिलि उच्चरत शाखोच्चार सबै सरस ।।
पावक पूज्यो समिध सुधारी । आहुति दीनी सब सुखकारी ।[116]

धर्म का व्यवहार क्षेत्र समाज है क्योंकि वहीं से इसका अंकुरण और विकास होता है, परन्तु समाज के निर्माण में जन-समुदाय भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है । इसलिए धर्म की सत्ता जीवन निरपेक्ष कैसे रह सकती है ? इसके अन्तर्गत् मानव-मूल्यों का समावेश होना स्वाभाविक है । ''भाषा-साहित्य के निर्माण में युगीन वातावरण का विशेष योग हुआ करता है ।''[117] रीतिकाल भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है । आलोच्य काल के घोर विलासी वातावरण में धार्मिकता की भावना का ह्रास हुआ । 'यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम-कृष्ण का अतिशय श्रृंगार ही नहीं करने लगे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति भी खोजने लगे थे ।'[118] परन्तु धार्मिक-मूल्यों की जीवन संबद्धता निरंतर बनी रही । भक्तिकाल जैसी धार्मिक-भावना तो यहाँ नहीं रही लेकिन कहीं मंगलाचरण के रूप में तो कहीं छुटपुट स्वतन्त्र रचना के रूप में यह भावना प्रवाहित रही । अतः रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य में देवी-देवताओं का स्मरण किया है जिससे समाज में व्याप्त बहुदेव उपासना के साथ-साथ कवि की धार्मिक-भावना भी स्पष्ट होती है । बोधा गणेश जी की वन्दना करते हुए कहते हैं :

द्विरदबदन मंगल सदन विध्नहरन सिरताज ।

कृपाकरन और बुधिकरन नमो नमो गनराज ।।[119]

भारतीय चिंतन में धार्मिक मूल्यों के अंग स्वरूप सत्संग को भी विशेष महत्त्व दिया गया है । सत्संग की महत्ता धर्म से जुड़ी होती है और व्यक्ति के आचार-विचार भी इससे प्रभावित होते हैं । रीतिकालीन वैभव-विलास के वातावरण में भी धार्मिक मूल्यों की जीवन्तता बनाये रखने हेतु कवि सत्संग न छोड़ने का संदेश देते हैं :

प्रापति जदपि कुसंग तदपि सुसंगु न छोड़िए ।[120]

तप,यज्ञ, त्याग और दान वैदिक युग से ही धर्म के अंग रहे हैं, जिनका अनुसरण करते हुए व्यक्ति में धार्मिक वृत्तियों का प्रस्फुटन होता है और व्यक्ति सांसारिकता को भोगते हुए मोक्ष की प्राप्ति करता है । वैदिक वाङ्मय में तप,यज्ञ, त्याग और दान आदि का महत्त्व देवताओं को प्रसन्न कर मोक्षादि की प्राप्ति का हेतु माना जाता था, परन्तु रीतिकाल तक आते-आते जीवन में पूजा-पाठ की पद्धति का प्रचलन तो रहा लेकिन वह रीझ तक ही सीमित रहा :

रीझि है सुकवि तो जानो कविताई

न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है ।[121]

रीतिकालीन समाज में भी तीर्थ, यज्ञ तप, दान आदि होते थे :

कोटि कोटि तीरथ करौं जोग जज्ञ तप दान ।

सीस ईस पर वारिकै मिलौं मित्र को आन ।।[122]

भारतीय लोक जीवन में आरंभ से ही पाप-कर्म से मुक्ति के लिए प्रायश्चित का विधान रहा है । यह एक प्रकार का उपाय विशेष है इसमें मनुष्य अपने द्वारा किए गए पापों से मुक्ति का प्रयत्न करता है तथा भविष्य में पुनः पाप कर्म न करने के लिए कटिबद्ध होता

है । इससे चित्त निर्मल होता है तथा मनोविकार विगलित हो जाते हैं । रीतिकालीन कवियों के काव्य में प्रायश्चित की झलक प्राप्त होती है । संसार के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख की स्थिति अवश्य आती है । आरंभ से ही भारतीय दर्शन में दुःख की अवधारणा को पिछले जन्म के कर्मों का फल माना जाता रहा है । इन कवियों ने प्रिय के वियोग के कारण सुख तथा दुःख दोनों का वर्णन किया है :

दुःख और सुख पाप और पुन्य दुऔ
रस रोसु को रोवत गावतु है ।
गुन औगुन ने की वदी हितू बैरी
सुधा विष एक सौ भावतु है ।[123]

सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख अवश्य ही आता है । इसलिए रीतिकालीन कवि संदेश देते हैं कि सुख की चाहना रखते हो तो दुःख का सामना करना ही पड़ेगा ।

रीतिकालीन काव्य में वर्णित सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मानव-मूल्यों के विवेचन के आलोक में कहा जा सकता है कि यद्यपि रीतिकाल के विलासी वातावरण में धार्मिक और दार्शनिक मूल्यों का ह्रास तो हुआ तथापि कवियों के काव्य में इनकी जीवन से सम्बद्धता निरन्तर बनी रही । भक्तिकाल जैसी भावना तो इनमें नहीं थी लेकिन अनेक प्रसंगों में ये जन-जीवन से भी जुड़े रहे । श्रृंगार-वर्णन की प्रधानता होते हुए भी इन्होंने वैष्णव एवं सूफी-साधना में प्रचलित तथ्यों के प्रति आस्था व्यक्त की है। इन्होंने मानव-मूल्यों के अन्तर्गत् जिन मूल्यों को ग्रहण किया है उनसे सम तथा विषम परिस्थितियों में जन-जीवन सम्बल ग्रहण करता है तथा सभी वर्गों के लोगों को एक-दूसरे के साथ मिल जुलकर रहने की प्रेरणा देता है ।

"आधुनिक काल के आधुनिक शब्द का अर्थ है - इहलौकिक दृष्टिकोण । धर्म, दर्शन, साहित्य आदि सभी के प्रति नये दृष्टिकोण का आविर्भाव ।"[124] इस काल के आरम्भ को पुनर्जागरण काल कहा गया है । सन् 1857 में भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम ने दैन्य-दारिद्रय को जन्म दिया । भारतीय जनता ने परतन्त्रता का अनुभव किया व ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनका आक्रोश बढ़ता ही गया । ब्रिटिश शासन काल में भारतीय मूल्यों में जो गिरावट आई उसका क्षोभ भारतीयों में था । इसी के विरोध में राजाराममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की । उन्होंने उदार मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया । स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की नींव डाली । उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया । रामकृष्ण परमहंस,विवेकानन्द ने जागरण का सिंहनाद किया। परिणामतः आत्म-बल और देश-भक्ति की भावनाओं का उदय हुआ । आधुनिककालीन कवि भी देश के नव-निर्माण की प्रबल आकांक्षा लिए देश की जनता में प्राचीन मानव-मूल्यों की स्थापना के लिए आगे बढ़े । यह वह युग था, जिसमें अतीत के गौरव को भारतीयों ने फिर से पहचाना । कवियों की यही चेष्टा रही कि लोगों में देश-प्रेम का उदय हो, सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करें व देश को प्रगति की ओर ले चलें । अतः उन्होंने अपनी रचनाओं में मानव-मूल्यों को बृहत्तर रूप में प्रस्तुत किया है ।

आधुनिककालीन कवियों के काव्य में सत्य की प्रतिष्ठा व्यापक रूप में हुई है। मैथिलीशरण गुप्त ने तो सत्य में शिव के दर्शन कर सत्य को सभी धर्मों का सार कहा है :

सत्य से ही स्थिर है संसार
सत्य ही सब धर्मों का सार
राज्य ही नहीं प्राण परिवार
सत्य पर कर सकता हूँ सब वार ।[125]

पन्त सत्य को मानव परिचालन की शक्ति मानते हैं । उनके अनुसार उसका शरीर भूतवाद हो व मन प्राणीवाद हो :

वही सत्य कर सकता जीवन का परिचालन

भूतवाद हो जिसका रजतन-प्राणिवाद जिसका मन ।[126]

आधुनिक काल के कवियों ने अपने काव्य में अहिंसा को भी स्थान दिया है । जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में अहिंसा का निरूपण समरसता के धरातल पर किया है :

हिंसक से रक्षा करे शस्त्र ।

पर जो निरीह, हित समर्थ हैं -

वे क्यों न जियें उपयोगी बन ।[127]

सुभद्राकुमारी चौहान अहिंसा के आत्मिक-बल पर विश्वास रखती हैं । अहिंसा के मंत्र का प्रभाव कुछ ऐसा है जिसके सम्मुख तोपें, बन्दूकें आदि काँपने लगती हैं :

बह चली तोप, गल चले टैंक-बन्दूकें पिघल जाती हैं

सुनते ही मंत्र अहिंसा के अपने में आप समाती हैं ।[128]

आधुनिककालीन काव्य में करुणा पूर्ण रूप में व्याप्त है । इस काल के कवियों द्वारा (नारी-शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता आदि) जो करुणापूर्ण कविताएँ लिखी गयीं उनके प्रतिपाद्य की नवीनता ने सहृदय को विशेष रूप से आकृष्ट किया है। युगीन समस्याओं की जानकारी कवियों को पूरी तरह थी । कहाँ तो प्राचीन भारत की भौतिक और सांस्कृतिक समृद्धि और कहाँ अकाल, महँगाई, महामारी तथा करों के बोझ से ग्रस्त जन-जीवन । परिवार, समाज और देश में क्रमशः बढ़ती हुई हीनावस्था के चित्रण में कवियों की वाणी अनायास करुणा से भीग उठी । कृषक की पीड़ा ने मैथिलीशरण गुप्त के हृदय को जो छलनी किया तो 'किसान' खण्डकाव्य बन गया । इसमें कृषक कारुणिक

चित्र का वर्णन है :

भरकर सबके उदर आप रहते रीते हैं

मरते हैं निरूपाय हाय ! शुभ दिन बीते हैं ।।[129]

'ग्राम्या' में नारी की दशा पर पंत के नयन करुणा से अश्रुगलित हो उठे :

योनि नहीं है रे नारी

वह भी मानवी प्रतिष्ठित

उसे पूर्ण स्वाधीन करो

वह रहे न नर पर अवसित।[130]

जब युद्ध की विभीषिकाओं के बीच भारतीय जनता छटपटा रही थी । मन में अशान्ति बनी हुई थी तब तत्कालीन कवियों के काव्य ने देश की जनता को शान्ति का पाठ पढ़ाया । युद्ध का समाधान शान्ति में है अशान्ति में नहीं । विश्व में शान्ति स्थापना के लिए सभी कंटकों को भी मिटाना होगा :

रहेगी भव में कैसे शान्ति

क्रूरता किया करेंगे जो क्रूर

तो हुआ लोक आराधन कहाँ

लोक-कंटक जो हुए न दूर ।।[131]

दिनकर की शान्ति समतामूलक शान्ति है, जिसे उन्होंने अनोखी शक्तिमत्ता से सम्पन्न अभिव्यक्ति प्रदान की है :

शान्ति नहीं तब तक जब तक

सुख भाग न नर का कम हो

नहीं किसी को बहुत अधिक हो,

नहीं किसी को कम हो ।[132]

श्री नरेश मेहता भी शान्ति का संदेश देते हुए लिखते हैं :

मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु ।

मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है

उसको ही

हाँ उसको ही जमाना चाहता हूँ बन्धु !"[133]

आधुनिक हिन्दी कवियों का मुकुट प्राय है -- त्याग-भावना । त्यागमय जीवन जीते हुए समाज हितार्थ-स्वार्थ त्यागने का संदेश देते हुए कवि कहता है :

केवल अपने लिए सोचते मौज भरे गाते हो,

जीते, खाते, सोते, जगते, हँसते सुख पाते हो ।

जन से दूर स्वार्थ साधन ही सतत् तुम्हारा यश है

सोचो तुम्हीं कौन जन जग में तुम सा स्वार्थ विवश है ।[134]

डॉ. रामकुमार वर्मा के 'एकलव्य' में अनुपम त्याग है :

गुरु-भक्ति ऐसी जो भविष्य के भाल पर,

तिलक बनेगी रवि रश्मि को समेट के,

पार्थ रक्त देखो इस एकलव्य वीर का

जो राज-वंश में भी धोया नहीं जायेगा ।[135]

प्रतीक का सहारा लेकर माखनलाल चतुर्वेदी ने 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता में देश-प्रेम व अपनी मातृभूमि पर मर मिटने का जो सुन्दर चित्र खींचा है, वह त्याग-भावना को ही प्रस्फुटित करता है :

चाह नहीं सम्राटों के शव

पर हे हरि, डाला जाऊँ

चाह नहीं देवों के सिर पर

चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ

मुझे तोड़ लेना वनमाली

उस पथ पर देना तुम फेंक

मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने

जिस पथ जावें वीर अनेक ।[136]

त्याग-वृत्ति होने पर ही बलिदान की भावना हृदय में उठती है । मानवता की रक्षा के लिए सहर्ष प्राणों की बलि दे देनी चाहिए :

स्वतन्त्रता के अर्थ हमारे निकट कौन सा मूल्य महान ?

धन क्या जीवन भी अपना, कर दें हम उस पर बलिदान ।।[137]

आधुनिककालीन कवि सभी भेद-भाव भुलाकर विश्वबन्धुत्व के आकांक्षी बने। वे सम्पूर्ण विश्व में एकता की भावना जागृत करना चाहते हैं :

सर्वोत्तम साधन है उर में ।

भव-हित पूत-भाव का भरना ।।

स्वाभाविक सुख लिप्साओं को

विश्व प्रेम में परिणत करना ।।[138]

सर्वहित की भावना 'कामायनी' में दृष्टव्य है :

औरों को हँसते देखो मनु,

हँसो और सुख पाओ,

अपने सुख को विस्तृत कर लो

सबको सुखी बनाओ ।[139]

मानव-मूल्यों में प्रेम का विषद् एवं व्यापक वर्णन आधुनिक काल में किया गया है। भारतेन्दु ने तो 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम-फूलवारी' आदि काव्य-कृतियों का प्रणयन किया। प्रेम जीवन की अद्‌भुत शक्ति है तथा उसके बिना जीवन निस्सार है :

गन्ध-विहीन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिका हीन ।
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन ।
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक ।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक ।[140]

कर्म-सिद्धान्त की भावना लोगों के मन में जगाये बिना उन्हें कर्म-प्रेरित नहीं किया जा सकता, इन विचारों से प्रेरित हो आधुनिककालीन कवियों ने कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है :

कर्म-यज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा
इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा ।[141]

पारिवारिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के निरूपण में इस काल के कवियों ने उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया है । इन कवियों की मनोवृत्ति है कि लोगों के अन्दर उपजी पारस्परिक भेद-भावना को दूर करके ऐसी भातृत्व की लहर उत्पन्न करें जिससे सब लोग विश्व को एक नीड़ बनाने की भावना को चरितार्थ कर सकें ।

साहित्य को जीवन की व्याख्या माना गया है । जिस बात का जीवन में मूल्य है,उसी का साहित्य में भी मूल्य है । इसलिए गुलाबराय ने लिखा है कि -- 'साहित्य-मूल्य जीवन-मूल्यों से भिन्न नहीं हैं ।[142] जिस प्रकार आई. ए. रिचर्डस साहित्य की समीक्षा के प्रतिमानों पर विचार करते समय सर्वाधिक ध्यान मूल्यों पर केन्द्रित करते हैं, उसी प्रकार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान भी साहित्य में मूल्यों के प्रबल समर्थक रहे हैं । समाज का प्रतिनिधि होने के कारण कवि समाज के हृदय में विचरण कर उसकी समस्याओं से प्रभावित होता है तथा अपने सन्निहित ज्ञान एवं अनुभव द्वारा नव-प्रकाश की किरणें विकीर्ण करता है जिससे लोगों में एक नई प्रेरणा जागृत होती है । काव्य का मूल्य जहाँ हृदय को आनन्द प्रदान करने में निहित है, वहाँ मन का संस्कार करना भी उसका एक महत् प्रयोजन है । जो साहित्य सहृदय में सद्भावनाओं को जागृत कर उसे संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठाने की चेष्टा करे वस्तुतः वही मूल्यवान साहित्य है । डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार -- 'साहित्य तत्कालीन सामाजिक जीवन में भाग लेने, उसकी समस्याएँ तय करने आदि की प्रेरणा देता है, साथ ही उसका व्यापक प्रभाव मनुष्य के संस्कारों के निर्माण में देखा जा सकता है।'[143] साहित्य में अदम्य संवेदना छिपी रहती है जिसे ग्रहण करके व्यक्ति अच्छा आदमी बन सकता है । डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने साहित्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है-- 'साहित्य माँ का दूध है, वह हाट-बाट में नहीं बिकता, पर वह जिसे पालता है, वह बहुत कुछ झेल सकता है, वह चाहे तो अच्छा आदमी बन सकता है, दूसरे के काम आने वाला आदमी बन सकता है ।'[144] साहित्य में जीवन रचा-बसा होता है और जीवन में साहित्य कहीं बसा होता है तो फिर किशोरावस्था उमंग बन जाती है,युवावस्था संघर्ष का उत्साह और प्यार का मीठा दर्द, प्रौढावस्था साहचर्य का भाव और वृद्धावस्था रस का ऐसा परिपाक कि सब स्वाद तलछट में समा जाता है । इस प्रकार साहित्य के गर्भ में मानव-मूल्य समाहित होते हैं और जीवन से रस लेकर ही साहित्य पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है ।

निष्कर्षतः वैदिक साहित्य में धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता रही । लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से ही प्रभावित हुआ । अतः उसमें धार्मिक मूल्य के

साथ-साथ वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों की भी प्रमुखता रही । आदिकालीन काव्य में वीरता तथा शृंगार का प्राधान्य रहा तो भक्तिकालीन काव्य में भेदभाव से उत्पन्न संकीर्णता को मूल्यों के माध्यम से एक नई दिशा प्रदान की गई । रीतिकालीन साहित्य में तद्युगीन सामंती मनोवृत्ति तथा काव्यशास्त्रीय मूल्यों को अभिव्यक्त किया गया तो आधुनिक काल में साहित्यकार धीरे-धीरे जन-जीवन के निकट आए और वैयक्तिक, धार्मिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में मूल्य स्थापना के प्रयास हुए ।

संदर्भ :

1. मनुस्मृति, 2 / 1
2. संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 975
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. 1
4. वैदिक साहित्य का इतिहास : डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, पृ. 88
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. 15
6. वही, पृ. 16
7 वही, पृ. 31
8.वैदिक वाङ्मय का इतिहास : भगवद्दत्त, पृ. 240
9.अष्टाध्यायी, 1 / 3 / 6
10.वैदिक साहित्य का इतिहास : डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, पृ. 146
11.भारतीय दर्शन : डॉ. बलदेव उपाध्याय, पृ. 111
12.मुक्तिकोपनिषद्, 1 / 30
13.संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. 37
14.वैदिक साहित्य का इतिहास : डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, पृ. 172
15.भारतीय संस्कृति : डॉ. गुलाबराय, पृ. 68
16.ऋग्वेद, 9 / 113 / 4
17.वही, 4 / 23 / 8
18.ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय - 33
19.वही, अध्याय - 33
20.यजुर्वेद, 26 / 2
21.मनुस्मृति, 2 / 16
22.वही, 1 / 108
23.शतपथ ब्राह्मण, 1 / 7
24.यजुर्वेद, 36 / 17
25.ऋग्वेद, 10 / 117 / 5
26.अथर्ववेद, 3 / 24 / 5
27.यजुर्वेद, 40 / 1
28.अथर्ववेद, 60 / 61 / 1
29.यजुर्वेद, 19 / 30
30.ऋग्वेद, 8 / 18 / 13

31.संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. 1
32.वही, पृ. 2
33.रामायण, 1 / 4 / 2
34.संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. 58
35.महाभारत (आदिपर्व), 56/32
36.संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. 143
37.वही, पृ. 233
38.हितोपदेश, पृ. 38
39.साहित्यशास्त्र : डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 13
40.वाल्मीकि रामायण, 2 / 109 / 13
41.महाभारत (उद्योग पर्व), 33 / 47
42.चाणक्यनीति दर्पणः भाष्यकार जगदीश्वरानन्द सरस्वती, पृ. 77
43.महाभारत (अनुशासन पर्व), 116 / 28
44.अभिज्ञान शाकुन्तलम् : महाकवि कालिदास, पृ. 12
45.वाल्मीकि रामायण, 1 / 2 / 15
46.रघुवंश : महाकवि कालिदास, 14 / 69
47.उत्तर रामचरितम् : भवभूति, 3 / 47
48.चाणक्य नीति दर्पण : भाष्यकार जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 8 / 13
49.वाल्मीकि रामायण, 34 / 26
50.वही, 34 / 28
51.नीतिशतकम् : भर्तृहरि, श्लोक 53
52.चाणक्यनीति दर्पण : भाष्यकार जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 17 / 3
53.वाल्मीकि रामायण, 7 / 15 / 23
54.श्रीमद्भागवत सुबोधिनी भाष्य, 11 / 25
55.चाणक्यनीति दर्पण : भाष्यकार जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 15 / 17
56.वाल्मीकि रामायण, 4 / 12 / 15
57.कुमारसंभव : कालिदास, 5 / 2
58.मेघदूत : कालिदास, पृ. 43
59.रघुवंश महाकाव्यम् : कालिदास, 14 / 86
60.अभिज्ञान शाकुंतलम् : कालिदास, 4 / 6
61.वही, पृ. 21
62.वही, 4 / 9

63.चाणक्यनीति दर्पणः : भाष्यकार जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 5 / 12
64.महाभारत (शान्तिपर्व), 329 / 12
65.सांख्य दर्शन, 3 / 23
66.रघुवंश : कालिदास, 1 / 6
67.महाभारत (अनुशासन पर्व), 6 / 10
68.चाणक्यनीति दर्पणः : भाष्यकार जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 13 / 15
69.महाभारत (शान्ति पर्व), 181 / 9
70.वाल्मीकि रामायण, 6 / 111
71.अशोक के फूल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 166
72.मानव-मूल्य और साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. 10
73.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 30
74.पृथ्वीराज रासो : सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ 153
75.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 49
76.वही, पृ. 49
77.पृथ्वीराज रासो : सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 74
78.विद्यापति : डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 306
79.हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 115
80.कबीर ग्रंथावली : डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. 64
81.तुलसी काव्य : सं. डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ. 187
82.संत सुधासार : सं. वियोगी हरि, पृ. 120
83.जायसी ग्रंथावली : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 270
84.रामचरितमानस : तुलसीदास 7 / 93 / 3
85.कबीर ग्रंथावली : सं श्यामसुन्दर दास, पृ. 47
86.रामचरितमानस : तुलसीदास 7 / 119 / 4
87.कबीर ग्रंथावली : सं. श्यामसुंदर दास, पृ. 38
88.सूरसागर (पहला भाग) : सं. नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 144
89.रामचरितमानस : तुलसीदास, 2 / 95 / 3
90.वही, 2 / 28 / 3
91.रहीम रत्नावली : सं. मायाशंकर याज्ञिक, पृ. 39
92.कबीर ग्रंथावली : सं. माताप्रसाद गुप्त, पृ. 184
93.रामचरितमानस : तुलसीदास, 7 / 121 / 11
94.कबीर ग्रंथावली : सं. श्यामसुन्दर दास, पृ. 55

95.जायसी ग्रंथावली : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 22
96.सूरसागर (दूसरा भाग) : सं. नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 957
97.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 268
98.साहित्य की महत्ता : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 21
99.वृंद सतसई : सं. श्यामसुन्दर दास, पृ. 424
100.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 224
101.रामचन्द्रिका : केशवदास,पृ. 110
102.बिहारी सतसई सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ : डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, पृ. 205
103.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 9
104.हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) : प्रो. महेन्द्र कुमार, पृ. 13
105.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 31
106.बिहारी सतसई सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ : डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, पृ. 237
107.रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना : बच्चन सिंह, पृ. 89
108.हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास : गुलाब राय, पृ. 125
109.बिहारी सतसई सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ : डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, पृ. 223
110.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 24
111.वही, पृ. 44
112.रामचन्द्रिका : केशवदास, पृ. 106
113.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 159
114.बिहारी सतसई सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ : डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, पृ. 240
115.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 159
116.रामचन्द्रिका : केशवदास, पृ. 187
117.हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) : प्रो. महेन्द्र कुमार, पृ. 11
118.वही, पृ. 14
119.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 19
120.वही, पृ. 115
121.काव्य निर्णय : भिखारीदास, पृ. 3
122.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 40
123.वही, पृ. 12
124.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 428
125.साकेत : मैथिलीशण गुप्त, पृ. 53
126.स्वर्णधूलि : सुमित्रानंदन पन्त, पृ. 13
127.कामायनी : जयशंकर प्रसाद, पृ. 64

128.गाँधी काव्य कुसुमांजलि : सं. नर्मदा प्रसाद, पृ. 152
129.किसान : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 7
130.ग्राम्या : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 85
131.वैदेही वनवास : पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ. 41
132.कुरूक्षेत्र : रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 21
133.संशय की रात : नरेश मेहता, पृ. 99
134.पथिक : रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 72
135.एकलव्य : रामकुमार वर्मा, पृ. 287
136.आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : माखनलाल चतुर्वेदी, पृ. 84
137.अर्जन और विसर्जन : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 78
138.वैदेही वनवास : पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ. 24
139.कामायनी : जयशंकर प्रसाद, पृ. 140
140.मिलन : रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 84
141.कामायनी : जयशंकर प्रसाद, पृ. 40
142.साहित्य समीक्षा : बाबू गुलाबराय, पृ. 18
143.आस्था और सौन्दर्य : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 17
144.नदी, नारी और संस्कृति : विद्यानिवास मिश्र, पृ. 110

चतुर्थ अध्याय

सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित वैयक्तिक मानव-मूल्य

चतुर्थ अध्याय

सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित वैयक्तिक मानव-मूल्य

काव्य कवि की मानसिक शक्तियों के विकास की ही व्याख्या तक सीमित नहीं होता, वह उससे भी आगे बढ़ता है । जिस प्रकार वह अपने चतुर्दिक फैली प्रकृति में अपने मनोवेगों का स्पन्दन देखता है उसी प्रकार अपने चारों ओर घिरे समाज में अपने जीवन के सुख-दुःख का इतिहास पढ़ता है । कवि चिन्तन करते-करते ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसका जीवन समाज के जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है । समाज में और उसमें अंशी-अंश भाव उत्पन्न हो जाता है । अपने को सुखी बनाने के लिए उत्सुक उसका मन, समाज को सुखी बनाने के लिए वह आगत आपदाओं के परिहार और अनागत आपदाओं के अवरोध-निरोध का मार्ग ढूँढ़ता है ।

कविवर सियारामशरण गुप्त ने 1914 ई. से 1963 ई. तक अनवरत काव्य-साधना की । इनके काव्य का उदय द्विवेदी युग में हुआ परन्तु कला का योग उसे छायावाद युग में मिला । डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है -- "उनके काव्य को पढ़कर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शान्ति का अनुभव करता है । इस काव्य में उत्तेजना का एकान्त अभाव है । वह न भावों को उत्तेजित करता और न विचारों को । भयंकर संघर्ष और उथल-पुथल के इस युग में जबकि सर्वत्र ही मूल्यों का कुहराम मचा हुआ है, उत्तेजना का यह शमन अद्‌भुत सफलता है । वास्तव में, आज के जीवन में उत्तेजना सत्य है और शान्ति कल्पना। सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना से युक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है और उनका यह विश्वास मानवीय-मूल्यों पर, सत्य और अहिंसा पर आधृत होने के कारण शान्त और नीरव है, दूसरे पर छा जाने वाला नहीं है।"[1]

मानवता के उपासक सियारामशरण गुप्त ने तत्कालीन देश व समाज की जो दशा देखी उससे उनका हृदय हाहाकार कर उठा । मानवता का पतन, साम्प्रदायिकता का ताण्डव नृत्य, दलितों का शोषण आदि को देख उन्होंने अपने नेत्र नहीं मूँदे । वे एक ऐसे साहित्यकार थे जो प्रगतिवादियों की श्रेणी से बाहरी मानवता पर आए हुए संकट के विषय में काव्य द्वारा पाठक को चेतावनी देते रहे । उन्होंने अपनी कविताओं में जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों का प्रणयन किया । हिन्दू समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय, अनीति, देश की सामान्य दुरावस्था, अकाल महामारी के प्रकोप आदि विषयों को अपने काव्य में समाहित किया और इन्हीं विषयों द्वारा गिरते हुए मानव-मूल्यों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया । साथ ही अपने काव्य में सार्वभौमिक, सार्वकालिक मानव-मूल्यों को बृहत्तर रूप में प्रस्तुत किया ।

4. क सत्य :

यथार्थ कथनं यञ्चसर्वलोकं सुखं प्रदम् ।

तत् सत्यमिति विद्येयमसत्यं तद्विपर्य्ययः ।।[2]

सच, यथार्थ (यथातथ्य) वचन को सत्य कहते हैं ।[3] मानक हिन्दी कोश के अनुसार जो मूल या वास्तविक रूप से ठीक हो । जिस पर पूरा-पूरा विश्वास किया

जा सकता हो । जिसमें झूठ या मिथ्या का लेश भी न हो । उसे सत्य कहते हैं ।[4] डॉ. लीलाधर शर्मा के अनुसार -- दार्शनिक विवेचनानुसार जब हम किसी वाक्य को सुनते हैं तो उसे या तो स्वीकार करते हैं या अस्वीकार । जब हम स्वीकार करते हैं तो उसे सत्य मानते हैं ।[5] इस प्रकार संसार के सभी देशों और कालों में विद्वानों, विचारकों, चिंतकों तथा साहित्यकारों ने सत्य का वर्णन किया है । सत्य के अधिष्ठान बिना मानव की प्रगति संभव नहीं है । 'आत्मशुद्धि' में गाँधी जी ने सत्य शब्द की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है -- ''सत्य शब्द का मूल सत् है । सत् के माने है - होना, सत्य अर्थात् होने का भाव । सिवा सत्य के किसी चीज की हस्ती ही नहीं है ।''[6] सत्य माने सच बोलना और सच व्यवहार करना । समस्त संसार सत्य पर अधिष्ठित है, सभी धर्म सत्य पर सुप्रतिष्ठित हैं । मानव के छोटे-बड़े सभी उद्योगों को सत्य का ही आधार रहता है । यह सत्य अखण्ड और एक रस है । सम्पूर्ण चर-अचर में इसी की सत्ता व्याप्त है । सत्य का दूसरा नाम परमेश्वर है..... इसलिए परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है ।[7] सत्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है -- ''सत्य में सब बातों का समावेश हो जाता है। सत्य में प्रेम मिलता है । सत्य में मृदुता मिलती है । सत्य सदा स्वावलम्बी होता है और बल तो उसके स्वभाव में ही होता है।[8] अतः सत्य वह शाश्वत सिद्धांत है जो विश्व की संरचना को शासित करता है, और इस समस्त घटना चक्र के पीछे विराजमान रहता है ।''[9]

सियारामशरण गुप्त मानवतावादी चिन्तन से अत्यन्त प्रभावित थे । यही कारण है कि समाज और राष्ट्र की युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर तथा भारतीयता की चिन्तन-धारा से ऊर्जा ग्रहण कर उन्होंने समाज को प्रेरित कर सन्मार्ग पर ले जाने वाला आलोकमय काव्य प्रदान किया । उनके काव्य में सत्य का स्वर सर्वत्र गुँजित है ।

सत्य बोलने व सच्चाई को स्वीकार करने में वे कभी पीछे नहीं हटे । उन्होंने काव्य में वैदिककालीन सत्य 'असतो मा सद् गमय । तमसोमा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतं गमय' की प्रतिष्ठा की है :

प्रार्थना सबके हृदय से भीतरी
असत् से सत् में हमें तुम ले चलो,
ले चलो हमको तिमिर से ज्योति में
मृत्यु से अक्षय अमृत में ले चलो !¹⁰

सत्य की शाश्वत प्रतिष्ठा करते हुए मानव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर वे मानव के अंदर नव-क्रान्ति का संचार करना चाहते हैं :

जानता हूँ, मानता हूँ, तथ्य यह -
मनुज जीवनधारियों में श्रेष्ठ है,
कुछ कहे कोई रहूँ आश्वस्त मैं,
जन्तु सारे, रम रहे हैं 'आज' में
भव्य 'कल' में भी मनुज है अस्तियुत
X X X
थी यही अमृताभिलाषा चित्त की
मनुज को गौरवमय नव क्रान्ति दूँ,
दूर तक निज को जगा दूँ ज्योति में ।¹¹

सत्य तत्त्व का तात्त्विक प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं :

सत्य, अहिंसा निखिल-प्रेम में
गूँज उठा तेरा जय-गान ।¹²

सत्य शाश्वत होता है । इसे प्राप्त करने अथवा जानने हेतु ऋषि-मुनियों ने

स्वयं ही भूला दिया था तब कहीं जाकर उन्हें सत्य-ज्ञान प्राप्त हुआ :

सत्य शाश्वत एक ही, तब तो सदा,
एक दो देखे बिना ही दूसरे
सिद्ध बुद्ध मसीह पैगम्बर विवुध
पा सके हैं, पा रहे हैं सब कहीं ।[13]

इसी सत्य द्वारा परम आनन्दमय ईश्वर की प्राप्ति संभव है । इस सत्य में अतीत के कितने ही युग विद्यमान हैं :

सार्वदेशिक सार्वभौमिक सार्व सत्
यह परम चिन्मय परम आनन्दमय ।
सब कही निर्भय त्रिकालातीत है ।
वर्तते इसमें अनन्त अतीत युग ।[14]

सत्य पथ के अनुगामी मानव को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं हैं :

सत्य निकल जाता है आगे
धर पथ अन्य अचिन्तित ।[15]

सत्य की ही हमेशा विजय होती है । इस सिद्धांत को सभी धर्मों तथा विद्वानों ने मान्यता प्रदान की है । इसी मान्यता का प्रतिपादन करते हुए गुप्त जी कहते हैं :

'सत्यमेव जयते' अहिंस गीत
गूँजा है जहाँ से शुद्ध स्वर में
नत हैं भविष्य-बन्धुओं के भाल,
प्रिय हो हमारा वही नित्य काल ।[16]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त के सम्पूर्ण काव्य में सत्य रूपी मानव-मूल्य का

अधिष्ठान है । 'नास्ति सत्य समो धर्मः'[17] इस उक्ति को आधार बनाकर उन्होंने सत्य को कहीं धर्म के रूप में तो कहीं साक्षात् ईश्वर के रूप में निरूपित किया है । उन्होंने सत्य का विवेचन किया है । सत्य को कहने व स्वीकार करने में वे कभी पीछे नहीं हटे । तत्कालीन समाज का यथातथ्य चित्रण भी उनकी सत्य के आस्था का परिचायक है :

पशु-तुल्य हम लाखों मनुज हा ! जी रहे क्यों लोक में
जीते हुए भी मर रहे पड़ कर विषम दुःख-शोक में ।
हा ! दैव, क्यों निस्सार यों जीवन हमारा है किया ?
दुःख भोगने के लिए क्या जन्म है हमने लिया ?[18]

लौह-यन्त्र के प्रभाव से मानव के अंदर की मानवता समाप्त प्राय हो रही थी। चहुँ ओर युद्ध के काले बादल मंडरा रहे थे । ऐसे समय में गाँधी जी का प्रादुर्भाव होना उन्हें सत्य रूपी सूर्य के उदय होने के समान ही लगा । वे निश्चिन्त होकर कहते हैं :

निगल रही है इस जगती को
लौह-यन्त्रिणी दानवता ;
पड़ी धूल में है बेचारी
आज विश्व की मानवता
दान अभयता का दे तूने उसे उठाया नीचे से
फिर से झलक उठी है उसमें जागृत जीवन की नवता ।[19]

वे ईसा मसीह से अन्त में यही कहलाते हैं कि असत्य का पलड़ा कितना ही भारी क्यों न हो ? उसे झूठ के आगे घुटने नहीं टेकने चाहिएँ । सत्यमार्गी जगत् की ज्योति के समान है :

जब असत्य अनीति के प्रतिरोध में कर कटु आघात अत्याचार की

यातानाएँ घोरतर सहनी पड़ें सज्जनों, तब तुम मनाओ हर्ष ही ;

सुख तुम्हारा है वही सबसे बड़ा ; सज्जनों तुम इस जगत् की ज्योति हो ।[20]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त के काव्य में सत्य रूपी मानव-मूल्य की बृहत्तर प्रतिष्ठा विद्यमान है ।

4. ख अहिंसा :

अ + हिनम् + अङ् से अहिंसा शब्द की निष्पति हुई है, जिसका अर्थ है-- मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न पहुँचाना ।[21] अहिंसा परमो धर्मः[22] की गूँज युगों से प्रत्येक दिशा से प्रतिध्वनित होती रही है । ईसा मसीह, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी आदि ने अहिंसा-सिद्धांत को धर्म का अपर रूप घोषित किया है । ईर्ष्या, स्वार्थ व मोह को भुलाकर प्राणिमात्र से प्रेम करना ही अहिंसा है । हर प्राणी ईश्वर का एक अभिन्न अंश है । योगदर्शन में अहिंसा का महत्त्व पतंजलि के इस कथन से स्पष्ट है कि --'अहिंसा हिंसा का निषेध मात्र नहीं है, उसमें सब जीवों के प्रति सद्भाव भी अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है - ''अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधी वैर त्यागः।''[23] अहिंसा की प्रतिष्ठा से बैर भाव का लोप होता है । ''अहिंसा का अर्थ केवल व्यापक रूप में द्वेष का अभाव मात्र नहीं है । यह एक भावात्मक प्रक्रिया है और क्रियात्मक शक्ति है, जो हमें प्राणीमात्र से प्रेम करने के लिए प्रेरित करती है- ऐसा प्रेम जो किसी भी प्रकार के राग, मोह अथवा स्वार्थ से रहित हो।''[24] गाँधी जी ने अहिंसा की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है-- ''अहिंसा का अर्थ, जैसे मैं समझता हूँ, यही है कि मन, वचन और कर्म से किसी के दिल या शरीर को चोट न पहुँचाई जाये । फिर भी इस सिद्धांत के लिए इतना ही काफी नहीं है । अहिंसा के

अनुयायी को सभी परिस्थितियों को बदलना पड़ता है, जिनमें हिंसा होती हो, जिनमें उसका होना सम्भव हो । जब कोई आदमी किसी की हिंसा को सह लेता है या उसमें सहायता देता है, तब मैं उसके कार्य को अहिंसा नहीं निकृष्ट प्रकार की हिंसा कहता हूँ ।''[25]

कवि सियारामशरण गुप्त राष्ट्रीय आन्दोलन के सैनिक और गाँधी सिद्धांत के साहित्य प्रवक्ता थे । उन्हें गाँधी जी के आदर्शों का जीवन पसंद था । इसी कारण वे अहिंसा के सिद्धांतों को जीने का उपक्रम मानते थे और उन्हें अत्यन्त गहनता से देखकर आत्मानुभूति में समंवित करते थे ।[26] गुप्त जी के अनुसार -- अहिंसा का सिद्धांत निर्जीव नहीं एक अमोघ और प्राणदायिनी शक्ति है क्योंकि अहिंसा रूपी सूर्योदय के होते ही घृणा, क्रोध, राग, द्वेष आदि तामसिक वृत्तियों का अन्त हो जाता है । उनका मानना है कि घृणा से घृणा अथवा हिंसा से हिंसा का अन्त नहीं हो सकता । मानव-कल्याण के लिए प्रेम और अहिंसा ही एकमात्र उपाय है । 'उन्मुक्त' में कवि ने युद्ध की विभीषिका को समाप्त करने के लिए अहिंसा को एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया है । अहिंसा प्रिय गुणधर का लौह व्यक्तित्व हिंसक वृत्तियों के समक्ष नहीं झुकता । वह बन्दी बनाये जाने पर भी निर्भय होकर कहता है :

सुन्दर सौम्य सुरूप देखने में वे मानव,
उनके भीतर छिपा कहीं है कोई दानव ।[27]

कुसुमद्वीप की हार वस्तुतः हिंसा की पराजय थी । कवि ने सार रूप में इसी महान सत्य की स्थापना की है कि अहिंसा की नीति ही सफल है । हिंसक भावनाओं का प्रतिनिधि पुष्पदंत भी अन्ततः स्वीकार करता है :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,

जो सबका है वही हमारा भी है मंगल

मिला हमें चिरसत्य आज यह नूतन होकर

हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर ।[28]

उन्होंने दार्शनिक तत्त्व का सहारा लेकर हिंसा वृत्ति का खण्डन करते हुए कहा है :

हिंसा के उपद्रव से सम्भव विनाश नहीं नर का

अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का ।[29]

हिंसात्मक वृत्ति के साथ मानव यदि मानव का शोषण करेगा तो वह मानव श्रेणी में नहीं रहेगा इन भावों को व्यक्त करते हुए कवि कहता है :

हैं हम सब भाई-भाई ही, है सबके अधिकार समान ।

नहीं रहेंगे मानव हम यदि, मानव ही को पीसेंगे ।[30]

'आत्मोत्सर्ग' काव्य में विद्यार्थी जी द्वारा भी कवि ने हिंसा का खंडन करवाया है क्योंकि उनका मानना है हिंस्र लोगों की हिंसा से हिंसा ही भड़कती है शान्ति कदापि स्थापित नहीं होती ।[31] 'नकुल' प्रबंध-काव्य में जब मणिभद्र युधिष्ठिर को उत्साहित करते हुए कहते हैं कि संसार की रक्षा गाण्डीव और गाण्डीवधारी ही कर सकते हैं तब युधिष्ठिर अपनी अहिंसात्मक भावना को दृढ़ करते हुए मणिभद्र की बात का खण्डन करते हुए कहते हैं :

सोच रहे हैं आर्य कि गाण्डीवी के खर शर

कर सकते हैं शान्ति प्रतिष्ठित इस पृथ्वी पर ।

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,

देंगे कैसे अमृत, बुझे स्वयमपि जो विष में ।[32]

'हिंसा का घृणा का प्रतिरूप घोर'[33] कहकर हिंसा की निन्दा की है तथा हिंसा को महापिशाच कहकर संबोधित किया है । इस हिंसा ने लोगों से सब कुछ छीन लिया है :

हिंसा का महापिशाच नाचकर नंगा नाच
पी गया है बूँद-बूँद सबका शरीर-रक्त
दर्पोन्मत्त क्रीड़ासक्त
लोभ दस्यु लूटपाट करके वस्त्र धन -
ले गया है हर के ।[34]

भूतलवासी हिंसक हो गये हैं । उनके अन्दर की दुर्वृत्ति को हटाने के लिए योग्य व्यक्ति चाहिए । अतः जवाहरलाल नेहरू की साठवीं वर्षगाँठ पर समर्पित कविता 'हीरक-तिथि' में नेहरू को संबोधित करते हुए कहते हैं :

हिंसा ग्रसित नाश के पथ पर हैं भूतल के प्राणी
जीना है तुमको उनके हित अभय अहिंसा लेकर
जियो जवाहर, होकर सबके, भार बहुत हैं तुम पर ।[35]

गुप्त जी की अहिंसा का आधार नैतिक और धार्मिक है । उसके स्वरूप निर्माण में अद्वैत भावना का अत्यधिक प्रभाव है । उनकी अहिंसा बेजोड़ एवं अद्वितीय है । उन्होंने मानवतावादी अहिंसा को अपनाया है । उनकी अहिंसा केवल आदर्श तक ही सीमित नहीं है । वे उसे लक्ष्य की सिद्धि के लिए शक्तिमय साधन के रूप में भी देखते हैं । तभी तो कुसुमद्वीप वासियों से कहलवाते हैं :

जानता हूँ निस्संशय
प्रतिपक्षी है घोर रूप में निर्मम हृदय ।

इसका भय क्या - रक्तपात हम नहीं करेंगे

झेलेंगे सब स्वयं, अहिंसक मरण वरेंगे ।[36]

अहिंसा हिंसा को समाप्त करने का साधन है लेकिन अहिंसा का तात्पर्य कायरता कदापि नहीं है । गुप्त जी का मानना है यदि कोई अन्याय करे तो उसको सहन मत करो क्योंकि आततायी लोगों के अत्याचार सहन करना और उन्हें न मारना हिंसा ही है। युद्धभूमि में मारकास्त्रों का प्रयोग करना वीरोचित कार्य नहीं है । अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग भी हिंसा ही है :

मारकास्त्रों का प्रयोग रणस्थल में

वीरोचित कार्य नहीं ; यह है अधम की

हिंसा नीति ; शूरता जो दिखती है इसमें

वह छलना है, भीरूता है छद्मरूपिणी ।[37]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त के काव्य में अहिंसा-तत्त्व का विशद् एवं व्यापक प्रतिपादन हुआ है । यह अहिंसा भावात्मक प्रक्रिया एवं क्रियात्मक शक्ति से पूर्ण है जिसके प्रतिपालन से मानवता परिपुष्ट होती है ।

4. ग करुणा :

'करुण' शब्द में टाप् प्रत्यय लगने से 'करुण' शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ अनुकंपा, दया, दयालुता आदि ।[38] किसी असमर्थ दुःखी अथवा संकट में पड़े हुए व्यक्ति को देखकर मन में होने वाली उसके दुःख की ऐसी अनुभूति जो उसका कष्ट या दुःख दूर करने की प्रेरणा देता हो, करुणा कहलाती हैं।[39] करुणा मानव का एक विशिष्ट गुण है। करुणा का अर्थ व्यापक है, वह भावात्मक, रचनात्मक और कर्तृत्वप्रेरक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार -- ''जिस बच्चे को पहले अपने ही दुःख का ज्ञान होता था, बढ़ने पर असंलक्ष्यक्रम अनुमान-द्वारा उसे और बालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक विशेष प्रकार का दुःख होने लगता है, जिसे दया या करुणा कहते हैं ।''[40] इस प्रकार दूसरों के दुःख के परिज्ञान से व्यक्ति को जो विशेष दुःख होता है उसे ही करुणा कहते हैं। निःस्वार्थ होकर, व्यापक दृष्टि से लोक-कल्याण हेतु परिश्रम करना सात्विक करुणा कहलाती है । ऐसी ही सात्विक करुणा के दर्शन सियारामशरण गुप्त के काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं । गुप्त जी मानवीय करुणा की प्रतिमूर्ति के रूप में जाने जाते हैं । युद्धों द्वारा होने वाले नर संहार, भिखारियों की अखण्ड पंक्तियाँ, झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोगों के दुःखों को देखकर उनका हृदय करुणासक्त हो गया। उन्होंने परिवेश और मानसिकता को अवहेलना की दृष्टि से देखी जाने वाली छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण स्थितियों और घटनाओं को अत्यन्त गम्भीरता के साथ कविता में रूपायित किया है ।

साम्प्रदायिक दंगों के कारण नोआखाली नामक गाँव पूरा ही उजड़ जाता है । वहाँ के कारुणिक दृश्यों को कवि ने 'नोआखाली में' नामक कविता में चित्रित किया है । एक भरा-पूरा गाँव श्मशान में बदल चुका है ।[41] प्रियजनों के अस्थि-चयन में भी हाथ कंपित हो उठते हैं ।[42] वृद्धा माता, पिता, बच्चे, नौकर यहाँ तक की नव विवाहिता को भी आततायियों का शिकार होना पड़ा । उस कारुणिक दृश्य को कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

वह वृद्धा माँ, वृद्ध पिता वे, गये क्रूरता से मारे,
पुत्र, पतोहू, पौत्र, भृत्य तक निहित हुए हैं बेचारे,
वह अमला-वाग्दत्ता थी जो गृह की निष्कलंक आभा
जाने कहाँ अचेत दशा में उठा ले गये हत्यारे ।[43]

अमला की अवस्था के प्रति कवि चिन्तित है । उसे बुरे विचारों ने घेर लिया कि पता नहीं उसके साथ क्या हुआ होगा, तभी वह स्वयं को धिक्कार कर कह उठते हैं :

हाय अरे रे क्षुद्रमना कवि ! यह कैसा कुत्सित विचार[44]

दैनिक पत्र में लोगों के हताहत होने के समाचार को पढ़ कर वे द्रवीभूत होकर कहते हैं :

उनके लिए किसी के उर में उठी न करुणा-लहरी,
उनकी मरण यातना में भी बोध शक्ति है बहरी।[45]

कवि ने ग्रामीण तथा दुःखी लोगों के दुःख को देखकर 'अनाथ' काव्य की रचना कर डाली तथा मोहन और जमुना के रूप में अभावग्रस्त लोगों का वर्णन किया । भूख से तिलमिलाते लोगों को भी कवि ने समीप से देखा और उनकी कारुणिक स्थिति का वर्णन किया है :

कहाँ जायें क्या करें, भीख अब माँगें किससे,
मिले कहाँ अब अन्न, बचें ये बच्चे जिससे ।
दीख रहा विकराल काल सब कहीं हमें है,
तृण का भी आधार दीखता नहीं हमें है ।[46]

निर्दोष लोगों पर अत्याचारियों द्वारा किये जा रहे उत्पीड़न को विलोक वे स्वयं से ही पूछ उठते हैं :

होगा न अत्याचारियों से हाय ! अब निस्तार क्या,
अब भी न होगा बन्द यह अन्यायियों का वार क्या ।[47]

सम्पूर्ण 'आर्द्रा'में कवि की कारुणिकता के दर्शन होते हैं । 'हूक', 'प्रयाणोन्मुखी', 'डाकू', 'नृशंस', 'एक फूल की चाह', 'अग्नि-परीक्षा', 'अबोध', 'खादी की चादर'[48]

आदि कविताएँ कवि की करुणा को प्रतिध्वनित करती हैं । 'अब न करूँगी' कविता में कवि ने एक छोटी बच्ची की कारुणिक अवस्था का चित्रण किया है । मालिक के कुत्ते को खाना न खिलाने की गलती की सजा उसे मार खाकर भुगतनी पड़ती है । साहूकारों के निर्मम हृदय का वर्णन भी कवि ने किया है जो गरीब को पशु से भी हीन मानते हैं :

मार-मारकर खूब मरम्मत करके
अभी हटा दूँगा मैं उसको घर से
अब तक मेरे कुत्ते को क्यों उसने नहीं खिलाया ।[49]

माँ की निश्च्छल करुण-दृष्टि का चित्रण भी कवि ने किया है :

मुझ पर तेरी दया-दृष्टि सतत रहती थी ।[50]

'वृद्ध' कविता में कवि ने वृद्ध लोगों के प्रति करुणा की वर्षा की है । जिन लोगों ने घर को संवारने के लिए दिन-रात एक कर दिया उन्हें वृद्धावस्था में अपना ही घर पराया लगने लगता है :

हे प्रणम्य वृद्ध ! इस घाट पै पड़े हुए
मृत्यु के - से घाट पै अड़े हुए
देते हो दिखाई तुम[51]

गणेश शंकर विद्यार्थी की मृत्यु पर भी वे करुणार्द हो कह उठते हैं :

उठो पूज्य ओ बन्धु हमारे, कर दो आज न यह उर भग्न।[52]

'उन्मुक्त' काव्य में युद्ध में मारे गये ज्ञानधर की माँ मृदुला की हृदयावस्था का कारुणिक चित्रण दृष्टव्य है :

वत्स ज्ञानधर, देख यहाँ मेरे आमोदी,
मैं यह हूँ, यह शून्य पड़ी है मेरी गोदी

आ तू, आ तू - अरे नहीं सुनता तू मेरी,

भूल गया क्या मुझे, अरे मैं मैया तेरी ।[53]

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने काव्य में करुणा का व्यापक एवं विस्तृत रूप में चित्रण कर उसे बृहत्तर मानव-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।

4. घ शान्ति :

'शम्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय के संयोग से शान्ति शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है - शांत होने की वह अवस्था जिसमें उद्वेग, क्षोभ, चिंता, दुःख आदि का पूर्णतः अभाव होता है ।[54] वाचस्पत्यम् के अनुसार :

यत्किंचिदस्तु संग्राम्यं स्वल्पं वा यदि वा वज्रं ।

या तुष्टि जायते चित्ते सा शान्तिः कथ्यते बुधैः।।[55]

जन समूह या समाज की वह अवस्था जिसमें उत्पात, उपद्रव, मार-पीट, लड़ाई-झगड़े, विद्वेष आदि का अभाव हो और फलतः लोग निश्चिंत भाव से सुख पूर्वक जीवन बिताते हों तथा वातावरण की वह स्थिति जिसमें नैसर्गिक तत्त्वो में कोई उग्रता या प्रचंडता न हो शान्ति कहलाती है ।[56] मानव-मूल्यों में शान्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह जीवन को बल प्रदान करती है । अतः प्रत्येक विवेकशील प्राणी शान्ति को साध्य मानता है। किसी भी युद्ध अथवा संघर्ष का मूल लक्ष्य शान्ति ही माना जाता है । शान्तिमय वातावरण में व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन, संपत्ति आदि सब कुछ सुरक्षित रहता है । समाज पूर्ण निष्ठा एवं शक्ति के साथ उन्नति और विकास कार्यों में संलग्न रहता है । प्राचीन काल से ही ऋषि, महर्षि, विद्वान, योगी, कवि सर्वत्र शान्ति की कामना करते रहे हैं । अशान्तिपूर्ण वातावरण में मानव का विकास संभव नहीं होता इसलिए वातावरण को

शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिए देवी-देवताओं से शान्ति की कामना की जाती है । सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में चिर-शान्ति की स्थापना का उद्‌घोष किया है । शान्ति रूपी धन को अपनाना ही मानव को कल्याण-पथ का पथिक बनाता है । उनका कहना है कि मनुष्य के हृदय में यदि अशांति है तो वह भय और संकट से ग्रस्त होता है, लेकिन शान्ति प्राप्त होते ही विघ्न बाधाएँ सभी टल जाती हैं :

आज यदि उर में अशान्ति है
चारों ओर संकट है, भीति और भ्रान्ति है ।
सुन तू अरे मेरे मन, श्रान्त-क्लान्त खिन्न तन,
तेरी शान्ति-लक्ष्मी शान्ति लायेगी,
कोई विघ्न-बाधा रोक उसको न पायेगी ।[57]

कवि ने गाँधी जी को प्रत्यक्ष शान्ति-दूत के रूप में अवलोका है, जिनके पास शान्ति बनाये रखने के सभी साधन हैं :

शान्ति के समस्त प्रभ्रमित स्रोत
आकर हैं पूर्णमाण, पूर्णकाम, ओतप्रोत ।[58]

उनके समीप जाने वाले के, उनके स्पर्श से ही विघ्न, द्वन्द्व व द्रोह शान्त हो जाते हैं :

पुण्य स्पर्श रत्न हे, तुम्हारे समाकर्षण में
शान्त कर जीवन का द्वन्द्व-द्रोह
एक लघु स्पर्शन में ।[59]

युद्ध की अशांति के बीच प्रत्येक मानव शान्ति की ही कामना करता है :

चाहते अशान्त उर विस्तृत सुनीर निधि
कौन विधि ओट लें सपाट मरूस्थल की ;

शान्ति तुम लेकर अथाह किसी तल की ।[60]

कवि ने अपने काव्य में शान्ति प्रिय सम्राट अशोक का वर्णन किया है । कलिंग के जन-संहार से उनका हृदय-परिवर्तन हो गया और उन्होंने युद्ध से विराम लेकर शान्ति का साम्राज्य फैलाया :

बहुगुणित प्रिय पुण्य प्रेम प्रतीक वह
राज्य चिह्न हुआ दिखेगा दूर तक
सर्वजन-मन-भव्य-भावन राज्य में
जित-अजित सबका सुमंगल हो सदा ।[61]

ईसा-मसीह को भी शान्ति का मसीहा मानते हुए कवि क्रूस उठाये उस महान पुरुष के दर्शन करने को कहता है :

शान्त रह, मेरे हृदय तू शान्त रह,
शान्ति की प्रत्यक्ष मूर्ति निहार ले ।[62]

युद्ध में प्रयोग किए जा रहे अस्त्र-शस्त्रों का भी गुप्त जी ने खण्डन किया है क्योंकि ये मारणास्त्र समस्त भुवन की शान्ति का हरण कर अशान्ति फैलाते हैं । इस अशान्ति से सम्पूर्ण धरा ही काँप उठती है :

फूट पड़े हैं ठौर-ठौर आग्नेय विकट तर
काँप उठी है धरा इन्हीं के विस्फोटन में
फैल गई प्रलयाग्नि शिखा यह निखिल भुवन में ।[63]

ऐसी अशान्ति से मरघट में चिता पर सोये व्यक्ति को भी शान्ति नहीं मिलती :

मेरे कवि तू कर प्रदक्षिणा आ उस थल की

शान्त नहीं है चिता वहाँ उस मरणानल की ।[64]

नोआखाली के दंगों के बाद वहाँ के अशांत वातावरण में कवि ने गाँधी जी के शान्ति-दूत के रूप में दर्शन किए । वे निखिल बन्धु अपने हृदय में असीम शान्ति लेकर आये हैं :

काली तमसा के नव निशान्त, तुम आओ,
इस तिमिर-त्रास में सुविश्वास बरसाओ ।[65]

महाराज युधिष्ठिर विषम परिस्थितियों से जूझते हुए भी पृथ्वी पर शान्ति की स्थापना करना चाहते हैं । मणिभद्र युधिष्ठिर से कहते हैं कि -- इस संसार की रक्षा गाण्डीव तथा गाण्डीवधारी ही कर सकते हैं तब युधिष्ठिर इस बात को अस्वीकार करते हुए कहते हैं :

सोच रहे हैं आर्य कि गाण्डीवी के खर शर
कर सकते हैं शान्ति प्रतिष्ठित इस पृथ्वी पर ।
मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझे, स्वयमपि जो विष में ।[66]

युद्ध से शान्ति कभी नहीं मिल सकती । युद्ध से युद्ध ही मिलता है यह सर्व विदित है । शान्ति तो त्याग एवं प्रेम से ही मिल सकती है :

धरना होगा आत्मदान के पावन मग को,
नवजीवन परिपूर्ण जिन्हें करना है जग को ।[67]

इस प्रकार सम्पूर्ण जग को नवजीवन से परिपूर्ण करने हेतु गुप्त जी ने अपने काव्य में शान्ति की कामना की है । इस शान्ति द्वारा कवि व्यक्तियों के हृदय की जड़ता को समाप्त करना चाहता है इसलिए वह महापुरुषों में भी शान्ति-दूत के दर्शन करता है

तथा सभी से चिर-शान्ति बनाये रखने की कामना करता है ।

4. ङ त्याग :

'त्यज' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगने से 'त्याग' शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ छोड़ना, परित्याग करना है ।[68] मानव-मूल्यों में प्रतिष्ठित एक मूल्य त्याग है क्योंकि मानव जीवन की सभी अवस्थाओं में उत्कर्ष के लिए त्याग-भावना का होना परमावश्यक है। व्यक्ति, कुटुम्ब, संस्था, समाज, राष्ट्र और मानवता के पोषण एवं संवर्धन के लिए त्याग-वृत्ति अति आवश्यक है । कवि सियारामशरण गुप्त का सम्पूर्ण जीवन त्याग का सुन्दर निदर्शन है। त्याग-भावना को उन्होंने सदा सराहा है । वे मानते हैं कि -- जिसमें त्याग की भावना नहीं वह न सत्य का पालन कर सकता है और न अहिंसा को ही निभा सकता है । उनके अनुसार महात्मा गाँधी, विनोवा भावे, गणेश शंकर विद्यार्थी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ईसा मसीह, गौतम बुद्ध आदि का जीवन त्याग के सुन्दर उदाहरण हैं । देश के लिए त्याग, गरीबी के लिए त्याग, अपने स्वार्थ का त्याग, दुष्प्रवृत्तियों का त्याग आदि त्याग के अन्तर्गत् समाहित हैं । कवि की बहुमुखी त्याग-भावना की प्रवृत्ति ने हिन्दी की गरिमा को गौरवांवित किया है ।

कवि ने औदार्य युक्त त्याग का वर्णन करते हुए अपने जीवन से दुःख, चिन्ता, भय, क्लेश आदि त्यागने को कहा है :

त्याग कर सम्पूर्ण चिन्ता, क्लेश, भय,
मौन रह, कुछ दूसरे ही भाव से ।[69]

मानव को अपने अंदर से डर की भावना को सर्वथा त्याग देना चाहिए क्योंकि इस भावना के मन में रहने से आत्म उन्नति संभव नहीं है :

भीत न हो, भीत न हो डर से
उसका पुनीताह्वान आ रहा है भीतर से

धाम यह है विस्तृत धूममय

भीतर नहीं है अभी वैसा भय

छिन्न कर भीति-जाल ।[70]

वैर भाव भी मानव का महान शत्रु है । इसके कारण मानव आपस में युद्ध करते रहे हैं । कवि कहता है इस वैर भाव को भी त्याग देना चाहिए :

सदियों तक आपस में लड़कर

करते रहे बराबर वार,

एक बार तो वैर छोड़कर

भाई, कर देखो तुम प्यार ।[71]

अन्याय-वृत्ति के साथ-साथ स्वयं की और दूसरों की हानि करने वाले क्रोध को त्याग देना उचित है :

न्याय-विचार न छोड़ो भाई, दूर करो यह दारुण रोष ।[72]

कायरता को त्याग कर अपने साहस के बल से मोह रूपी मूर्च्छा का भी परित्याग करना चाहिए :

धर्मराज, कातर्य छोड़कर जागो ; जागो

साहस-बल से मोहमयी मूर्च्छा यह त्यागो ।[73]

भारतीय सामाजिक जीवन में त्याग का स्थान बहुत बड़ा है । त्यागमय जीवन को ही यहाँ सर्वश्रेष्ठ माना गया है । त्याग-वृत्ति व्यक्तिगत रूप से भी मानव कल्याण करती है क्योंकि इस त्याग का एक अर्थ दुःख, क्रोध, मोह, अहंकार आदि सबके परे जाकर निस्संग होना है । गौतम बुद्ध का त्याग एक आदर्श त्याग है । इनके त्याग के विषय में

कवि कहता है :

छोड़ पुत्र कलत्र राज्य कुटुम्ब धन
मुक्त होकर निष्क्रमित था मार्ग में,
सो रहे तनु में सहज ही भाव से
स्वस्थ श्वास-समीर ज्यों गतिमन्त था।[74]

पाप का निवारण तथा प्रेम का प्रसारण भी तभी हो सकता है जब मानव कोई बड़े से बड़ा त्याग करता है । पांडवों को भी सत्य का अधिष्ठान करने के लिए निरन्तर त्याग करना पड़ा था । युधिष्ठिर स्वयं कहते हैं :

करना है यदि हमें यहाँ यह पाप निवारण
हो अभीष्ट सर्वत्र प्रेम का पूर्ण प्रसारण
करना होगा बड़ा त्याग निज सुखजीवी को
होना होगा स्वयं समर्पित गाण्डीवी को ।[75]

देश को स्वतंत्र कराने के लिए कितने ही वीरों को अपने जीवन का त्याग करना पड़ा था । वीरों के त्याग को कवि ने जलने वाले दीप के समान माना है जो रात भर जागकर सबको उजाला देता है:

दीप तू जागृत रहा है रात भर
और मैं बेसुध पड़ा सोता रहा
हाय, अत्याचार यह निज गात पर
स्नेह सह तू प्रज्ज्वलित होता रहा ।[76]

ऐसे त्यागी वीर भी अपने त्याग को सफल मानकर कहते हैं :

प्रज्ज्वलित होता रहा, अच्छा हुआ

दीप बोला-जागना मेरा सफल

अब सुजागृति ने तुझे आकर छुआ

पा सकूँगा सुप्ति सुख मैं भी विमल।[77]

देश भक्तों के निःस्वार्थ त्याग का युगों-युगों तक गौरवगान किया जाता है । विद्यार्थी जी के आत्म-त्याग को कवि गौरवपूर्ण मानता है :

मान्य विशिष्ट जनों ने उठकर

उनका गौरव-गान किया,

उनके उस स्वर्गीय त्याग का

शुचि सोल्लास बखान किया।[78]

वैयक्तिक स्वार्थपरता, लोलुपता और ईष्या-द्वेष की दूषित प्रवृत्ति से ऊपर उठकर प्रेम पूर्वक सम्पूर्ण विश्व कल्याण की भावना के साथ मानव को संचय के साथ त्याग वृत्ति अपनानी चाहिए । श्री कृष्ण के माध्यम से कवि स्वयं कहता है :

स्वस्थ रखना है, तुम्हें सर्व को निखिल को

रहना तुम्हें है यहीं श्री सुरभि पथ पर ।

संचय के साथ-साथ त्याग का उपार्जन करो सप्रेम

निस्संताप जूझना है पक्ष-प्रतिपक्ष के समस्त दुर्जयों से।[79]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त का सम्पूर्ण काव्य त्याग की उदात्त वृत्ति की प्रेरणा देता है।

4. च बलिदान :

समाज, धर्म तथा राष्ट्र हित त्याग-वृत्ति से तन, मन तथा धन न्यौछावर करना ही बलिदान कहलाता है । यह मानव का वैयक्तिक मूल्य है जिसके प्रतिपालन से मानव सम्मानित होता है । बलिदान की भावना व्यक्ति की आन्तरिक वृत्ति व स्वार्थ रहित भावना है, जिसमें सम्पूर्ण मानवता का कल्याण निहित होता है । जिस प्रकार धर्म के अनुपालन में भक्त त्याग की भावना से उद्वेलित होकर बलिदान के लिए तत्पर रहता है, उसी प्रकार राष्ट्र-प्रेमी राष्ट्र की गौरव-गरिमा की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान करता है । पराधीन, परवश तथा अत्याचारों से पीड़ित देश तथा जाति को मुक्त करने के लिए स्वतंत्रता की अभिलाषा की भावना पर्याप्त नहीं है । अभिलाषा से बढ़कर है बलिदान तथा सर्वस्व समपर्ण की भावना । मातृभूमि, राष्ट्र रक्षा तथा धर्मोद्धार के लिए सैकड़ों लोगों ने बलिदान किया है। देशभक्तों के आत्म-बलिदान से ही भारत परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त हुआ ।

सियारामशरण गुप्त का सम्पूर्ण काव्य मानव को बलिदान का पाठ सिखाता है। तत्कालीन राष्ट्र अंग्रेजी शासन की निर्दयता तथा कठोरता के प्रबल रूप से प्रभावित हो चुका था । स्वतंत्रता संग्राम के माध्यम से अंग्रेजी शासन को समाप्त करने का प्रयास किया गया, किन्तु प्रयास विफल रहा । भारतीय जन-मानस में उभरा विद्रोह स्वतन्त्रता का अभिलाषी था परन्तु देश की स्वतंत्रता असंभव-सी प्रतीत हो रही थी । इस असंभव कार्य को राष्ट्र-प्रेमी अपने बलिदान से संभव करना चाहते थे । ऐसे समय में गुप्त जी ने प्राचीन वीरों तथा वीरांगनाओं के बलिदान के इतिहास को काव्य का विषय बनाया । उनके काव्य में विद्रोह का स्वर सुनाई देने लगा क्योंकि परवशता की यातनाओं को तथा व्याप्त विषमताओं का सामना कवि ने भी किया था । तत्कालीन युवक-युवतियों में बलिदान की भावना को उद्‌बुद्ध करने के लिए अतीत का गौरव-गान भी किया । कवि जानता था कि

प्रत्येक मानव के अन्दर उत्साह तथा उमंग है, पर वह सुप्तावस्था में है । देश के लोगों की सोई हुई शक्ति को जागृत करने के लिए कवि ने देश के अतीत तथा वर्तमान के वीर पुरुषों के पराक्रम एवं महानता का वर्णन अपने काव्य में प्रस्तुत किया । वीर रस की प्रभावी योजना द्वारा वीरों की स्तुति एवं शक्ति तथा शौर्य की उपासना के गीत भी गाये हैं । अपने काव्य में चन्द्रगुप्त मौर्य, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, महाराणा प्रताप, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, गणेश शंकर विद्यार्थी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि महापुरुषों एवं योद्धाओं के शौर्य तथा बलिदान का इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है । चन्द्रगुप्त अपने देश की कीर्ति बढ़ाने के लिए सैनिकों को युद्ध से विमुख न होने को कहते हैं :

आओ वीर ! आज देश की कीर्ति बढ़ा दें

सबके सम्मुख मातृभूमि को शीश चढ़ा दें ।[80]

कवि ने निःस्वार्थ बलिदानियों का चित्रण अपने काव्य में किया है, जो अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुए कहते हैं -- मेरी माँ की गोद उजड़े तो कोई बात नहीं सैकड़ों माँओं की गोद न उजड़े इन भावों को लिए फाँसी के फंदे में झूल जाते हैं लेकिन अपने साथियों के नाम नहीं बताते :

अन्य साथियों के नाम कुछ भी हो, खोलूँगा न मैं कभी

जैसे हो सकेगा मैं कलेजा थाम, अत्याचार, पीड़न, प्रहार सह लूँगा सभी ।[81]

गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे महान वीर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए व देश को स्वतंत्र करवाने के लिए किस प्रकार अपने प्राणों की आहुति दे डाली, उसका मार्मिक और अनुप्रेरक वर्णन कवि ने 'आत्मोत्सर्ग' में किया है । उनके बलिदान को देख कवि गद्‌गद् हो कह उठता है :

नहीं बुझेगी चिता तुम्हारी उसकी यह ज्वलन्त ज्वाला

निज प्रकाश से मातृभूमि का मुख उसने है धो डाला ।[82]

कुसुमद्वीप वासी अपने राज्य को बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति तक देने को तैयार हो जाते हैं । पुष्पदन्त के अन्तःकरण में देश हेतु के लिए न्यौछावर होने का अटल विश्वास है :

कुसुमद्वीप, हे कुसुमद्वीप, सर्वस्व हमारे,
हम सब हैं सर्वत्र, सर्वथा, सदा तुम्हारे ।
तुम्हीं हमारी ज्ञान ज्योति अन्तः करणों में
अर्पित हैं ये प्राण तुम्हारे ही चरणों में ।[83]

सोलह वर्षीय बालक महाराणा प्रताप भी अपने देश की रक्षा हित प्राणों का बलिदान करना चाहते हैं वे अपनी माँ के समीप जाकर कहते हैं :

आशीर्वाद दीजिए हे माँ ! करने को स्वदेश का त्राण,
विचलित होऊँ नहीं युद्ध से निकल जायँ चाहे ये प्राण ।[84]

महाराणा प्रताप की बहन भी युद्ध करते हुए प्राण त्याग देती है :

फिर भगिनी वीर प्रताप की करके विपुल शत्रु-संहार
प्राप्त हुई वीरों की गति को फैलाकर कीर्ति अपार ।[85]

नारियाँ भी धर्म रक्षार्थ स्वयं को बलिदान कर सकती हैं :

कितनी ही नारियाँ धर्म पर थीं कर चुकी शरीर-निपात ।[86]

रानी लक्ष्मीबाई ने भी झाँसी को अंग्रेजों के हाथों से बचाने के लिए स्वयं को आहुत कर दिया :

करके निज स्वातंत्र्य हेतु सर्वस्व निछावर

आहुत होकर मुक्ति यज्ञ की बलि वेदी पर,

श्री लक्ष्मीबाई ने लघु में किया बृहत को

निज झाँसी में अखिल प्रतीक दिया भारत को।[87]

कवि कृष्णा से कहलवाता है यह वही भारत-भूमि है जिसके लिए असंख्य वीरों ने बलिदान दिया है । मुझे भी धर्म रक्षार्थ प्राण त्यागने पड़ें तो पीछे नहीं हटूँगी :

यह वही है भूमि जिसके हित यहाँ

है असंख्यक वीर कट कर मर गए ।

यह वही वीर भूमि है जिसके तनय

सींच इसको हैं चुके निज रक्त से।

वह सगर्व कहती है :

देश-हित की दिव्य वेदी पर अहा !

वह चढ़ा सकती अभी तक शीश है ।[88]

बलिदानियों द्वारा किए गए आत्मोत्सर्ग को देख कवि कह उठता है :

धन्य हम भी हो गए हैं देख के

देश के हित दिव्य आत्मोत्सर्ग यह।[89]

देश-हित के लिए तो वीर बलिदान देते ही हैं साथ ही देश के प्रतीक झंडे आदि के लिए भी सहर्ष प्राणाहुति देकर उसका मान रखते हैं :

कितने वीरों ने कह करके प्राणों का बलिदान,

मरते-मरते भी गाया है इस झंडे का गान

लाली इसे दे गया है वह उनका रुधिर महान

हरा हृदय इसका है पाकर उज्ज्वल यश सम्मान ।[90]

इस प्रकार गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना बड़ी ही व्यापक है । वह अखिल मानवता का संस्पर्श करती है । देश, धर्म, जाति, तथा मानवता के रक्षार्थ बलिदान हुए लोगों के प्रति वे सदैव आभारी रहे तथा अपने मनोभावों को काव्यों द्वारा अभिव्यक्त किया है।

4. छ क्षमा :

'क्षमा' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्षम्' धातु में अङ् + टाप् प्रत्यय लगने से हुई है, जिसका अर्थ है -- धैर्य, सहिष्णुता माफी आदि।[91] क्षमा का एक अर्थ पृथ्वी भी है ।[92] इसी पृथ्वी के वक्ष पर हम केवल उठते बैठते ही नहीं प्रत्युत उसे निरन्तर पैर तले कुचलते रहते हैं । विभिन्न प्रकार से इसका दोहन करते हैं फिर भी यह पृथ्वी उदारमना होकर हमारे दोष सहन करती है । विभिन्न प्रकार से हमारा पोषण करती है । उदार अन्तःकरण से नाना विध सुखों को उपलब्ध कराती है । इसलिए पृथ्वी का नाम क्षमा है ।[93] 'विदुर नीति' में लिखा है -- ''मूर्ख पुरुष कठोर और निन्दायुक्त वचनों से महात्माओं को दुःख देते हैं । कठोर वचन बोलने वाला पाप का भागी होता है, परन्तु क्षमा करने वाले को कोई पाप नहीं लगता ।''[94]

क्षमा मानवी जीवन का आधार है । त्रुटि-कर्ता को, दण्ड देने की सामर्थ्य रहने पर भी, दण्ड न देना ही क्षमा है । 'महाभारत' में क्षमा को परम तीर्थ माना गया है -- क्षमा परम तीर्थ सर्वतीर्थेषु पाण्डवः।[95] क्षमा करने वाला व्यक्ति महानता होता है । क्षमा उसकी आन्तरिक शक्ति होती है । कितना ही बड़ा कर्तृत्त्ववान, बुद्धिवान, शक्तिशाली, प्रतिभा सम्पन्न पुरुष हो वह गलती कर ही जाता है । ऐसी स्थिति में गलती की ओर ध्यान न देकर (दोषों

को न देखते हुए) गुणों का अवलोकन करना ही क्षमा कहलाती है । क्षमा अपराधी को दिये जाने वाला सर्वोत्तम दण्ड है क्योंकि क्षमादान मिलने पर उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है।

सियारामशण गुप्त ने अपने काव्य में अपराध विनाशक एवं आत्म-परिष्करण में सहायक क्षमा का वर्णन किया है । क्षमा-याचना करने पर त्रुटि-कर्ता को क्षमा करना भारतीयों का नैतिक कर्त्तव्य है । क्षमा-याचना के अभाव में भी क्षमा करना भारतीय संस्कृति में प्रशंसित है । इसी विश्वास के कारण यूनान-सम्राट सिल्यूकस की पराजयोपरान्त भी चन्द्रगुप्त उसे बन्दी न बनाकर क्षमा कर देते हैं :

बन्दी हैं सम्राट आप-आप इस समय हमारे

क्षमा किये पर दोष आपके हमने सारे ।[96]

क्षमा रूपी गुण जिस मानव में होता है वह मृत्यु के समय अपने कृत्य-अकृत्य कर्मों की क्षमा-याचना करता है । ऐसे मानव की त्रुटियों को समाज भी भूला देता है :

हो गई होंगी तदपि त्रुटियाँ अनेक,

भान भी जिनका नहीं मन में कुछेक ।

x x x

साथ ही मेरे सभी जल जायें वे

बाद मेरे फिर न चुभने पाएँ वे ।[97]

कवि की त्याग पूर्ण क्षमा के दर्शन हमें वहाँ होते हैं जब एक वृद्धा माँ अपने पुत्र के दुष्कर्मों के बदले पीड़िता से कहती है -- तुझे उसने जो तकलीफ पहुँचाई उसके लिए परमेश्वर से क्षमा-याचना कर दे और तू भी उसे क्षमा-दान दे :

बेटी, तकलीफ हुई जो तुझे

गद्‌गद हो,साश्रु, शान्त स्वर से

पीड़कों के अर्थ क्षमा माँग परमेश्वर से

और निज ओर से स्वयं ही क्षमा-दानकर ।[98]

सबल पुरुषों की प्रतीति क्षमा के द्वारा होती है । क्षमा परिवार व समाज की धारणा शक्ति है । इस गुण के कारण अन्तःकरण की उदारता एवं मृदुता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं । क्षमा दान करने वाले के समान क्षमा-याचना करने वाले को भी गुप्त जी ने प्रशंसनीय माना है । मनुज ईश्वर से क्षमा माँगते हुए कहता है :

पूर्व में मैंने किसी प्रकार किया हो यदि कुछ दुर्व्यवहार ;

निरंकुश होकर क्रूर, अबाध किया हो गुरुतर गुरु अपराध

अकारण ही करके विद्वेष हृदय को पहुँचाई हो ठेस,

क्षमा उसके निमित्त शत बार माँगता हूँ मैं हाथ पसार ।[99]

क्षमा के उत्कृष्ट रूप के दर्शन कवि ने ईसा-मसीह में किए हैं क्योंकि ईसा मसीह को जब वध स्थल की ओर ले जाया जाता है तब भी ईसा उनकी अज्ञानता की क्षमा प्रभु से माँगते हैं और उनकी दुर्भावना को शान्त करने की प्रार्थना करते हैं :

शान्त हो प्रभु शान्त हो दुर्भावना

आतिथेय कृपालु के प्रति चित्त की ।[100]

क्रूस पर चढ़ने से पहले भी वे उनके लिए क्षमाशील होकर कहते हैं :

कर क्षमा उनको पिता, तू कर क्षमा ;

कर रहे क्या, वे नहीं यह जानते ।[101]

कवि मानव के अन्दर बढ़ रहे अभिमान की क्षमा ईश्वर से माँगता है :

हे प्रभो, कर दो क्षमा, कर दो क्षमा

जग उठा है आज नर में गर्व जो ।[102]

वही महान होता है जो अपनी भूल स्वीकार करता है । इसी तथ्य को कवि ने उजागर करते हुए कहा बेटियाँ भी अपनी भूलों की क्षमा-याचना अपने बड़ों से करती हैं । कृष्णा भी मृत्यु-समय अपने पिता से निवेदन करती है :

चरण-रज मुझको पिताजी दीजिए ।

दोष जो मुझसे हुए हों भूल से

कीजिए उनके लिए मुझको क्षमा ।[103]

मानव यदि अपने दुर्भावों को त्याग कर क्षमा-याचना करता है तो वह क्षम्य होता है :

क्षमा करें, दुर्भाव धुल गए हैं मेरे अब,

होते नहीं कुठौर मध्य भी बुरे-बुरे सब ।[104]

कलिंग युद्ध में असंख्य निर्दोष लोगों के शवों को देखकर अशोक के हृदय में ग्लानि का बोध हुआ और वे अपने दुष्कृत्यों की क्षमा-याचना करते हुए कहते हैं :

गर्व भी बहुधा किया है चित्त में

मैं पुरुष परिपूर्ण जड़-चेतन सहित

आज तो यह दीख पड़ता है, मुझे

प्राण वह मुझमें कहाँ, जड़ हूँ निरा

चेतना का चिह्न पीड़ा-बोध है ।[105]

क्षमा माँगने वाला तथा क्षमा करने वाला दोनों को ही परम श्रेष्ठ माना गया है इसलिए क्षमा को मानव का वैयक्तिक मूल्य माना जाता है । इस प्रकार गुप्त जी ने क्षमार्थी और क्षमादान करने वाले का वर्णन अपने काव्य में व्यापक रूप से किया है ।

4. ज मृदुता :

फलों के भार से वृक्ष झुक जाते हैं, पानी से भरे हुए मेघ भी नीचे की ओर आते हैं । जो श्रेष्ठ और परोपकारी होते हैं, वे अपने वैभव का अभिमान नहीं करते और मृदुता (नम्रता) धारण करते हैं :

भवन्ति नम्रास्तवः फलोद्गमै नवाम्बुभिर्दरबिलन्बिनो घनाः

अनुद्धता, सत्पुरूषाः समृद्धिभिः स्वभावएवैष परोपकारिणाम्।[106]

अतः मृदुता मानव का एक अमूल्य गुण है । इस गुण से व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति होती है । जिन लोगों में मृदुता नहीं होती वे एक दूसरे को कठोर वचनों से प्रताड़ित करते हैं । इसके विपरीत मृदुभाषी मधुर वचनों का प्रयोग करते हैं क्योंकि लोगों के हृदय सिंहासन पर अधिष्ठित होने का सरल और सहज मार्ग है -- मृदु वचन । मृदुता से संसार के आधे दुःखों को दूर किया जा सकता है । पिता-पुत्र, भाई-भाई, स्वामी-सेवक, छोटे-बड़े, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, बहन-बहन, व्यापारी-ग्राहक, ऊँच-नीच आदि परस्पर मृदुता का आचरण करें तो किसी को भी क्लेश नहीं होगा । ऐसी ही क्लेश रहित मृदुता का वर्णन सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में किया है । प्रत्येक मानव को अपने अन्दर की कठोरता को त्याग कर मृदु बनना चाहिए । सभी के अन्दर प्रभात-सी मृदुता होती है :

इस दोपहरी में प्रभात की मृदुता है तेरे घर में ;

शान्ति यहाँ झट आ जाती है क्रुद्ध प्रभंजन के स्वर में ।[107]

इस मृदुता से करुणा का निर्झर झरता है जिससे लोगों को सुख प्राप्त होता है :

अविरत तेरा करुणा-निर्झर

अगणित धाराओं से झर-झर

जीवित रखता है जीवन भर ।[108]

दुःखी और निर्धन को विलोक कर अनायास ही हृदय में मृदुता के भाव भरने लगते हैं :

दुःख मुझे होता उसे देख के सदा उदास

चारों ओर आस पास ।[109]

माँ का स्वभाव मृदु होता है । वह अपनी संतान को मृदुलता का पाठ सिखाती है। संतान भी सहर्ष उसकी मृदुता को स्वीकार करती है :

अब तक केवल मातृरूप की कोमल छाया

हम सब पाते रहे विमल तेरे अंचल में ।

तू अब तक बस भरे हुए निज वक्षस्थल में

पान कराती रही हमें पावन पय-धारा ।[110]

राष्ट्र भक्त नौजवानों की मृदुता के कारण राष्ट्रवासी सुख को प्राप्त करते हैं। वे शत्रुओं से देश की रक्षा कर देश को भय मुक्त करते हैं :

प्राण के तपस्वी, सर्वत्यागी । इसी तप से

घर-घर आज हम निर्भय है ; रिपु की

क्रूरता से बालक हमारे सुरक्षित ही

हैं निश्चिन्त पत्नियाँ सुहाग भरी सुख से

गाती हैं तुम्हारे जयगीत द्वीप भर में ।[111]

'बापू' काव्य में महात्मा गाँधी के अन्दर तो मृदुता का भंडार भरा है । अपनी मृदुता से वे सबको स्नेहासिक्त कर रहे हैं :

प्रियता, अतीन्द्र प्रेम-प्रियता,

वह है तुम्हारी क्रिया-क्रियता

अहरह सर्वकाल ।[112]

इस मृदुता रूपी अमृत के बिना यह जीवन नीरस और मृतप्राय है-- बिना अमृत के यह जीवन सब नीरस मृतक प्राय।[113] मृदु स्वभाव वाले मानव स्व हित की चिन्ता न करते हुए औरों का हित चिन्तन करते हैं। कूप, तालाब, धर्मशालाएँ आदि बनवाते हैं :

अच्छा, यहीं कूप खनवाऊँगा,
अच्छी पान्थशाला बनवाऊँगा ।
यात्री यहाँ यात्रा का सुवास लें ;
स्नेहाशीष देते हुए प्रेम से किसी का नाम लेते हुए ।[114]

ऐसे परोपकारी व्यक्तियों का सभी आदर और सम्मान करते हैं । उनके सत्कृत्यों का गुणगान निरन्तर करते हैं :

सुन ओ, तू तो चिर निर्मल है ;
चिन्ता क्या, यदि सुकृति प्रबल है ?
तुझमें मधु-माधुर्य अचल है।[115]

क्षणिक मृदु वाणी भी जीवन को उसी प्रकार उल्लासमय कर देती है जिस प्रकार कोयल की मीठी कूक कान में मिश्री घोल देती है :

मेरे नीरव-निर्जन पथ को
मुखर-मन्त्र मिल गया अचूक
कम क्या, यदि सुन सका क्षणिक ही
कोयल, वह तेरी कूक-कूक ?[116]

मृदुता से वैर भाव को भी प्रेम में परिणत किया जा सकता है । मृदुता के बल

पर ही गणेश शंकर विद्यार्थी ने कितने ही अनाथ लोगों को बचा लिया था :

वैर प्रेम में परिणत करके लेकर उन लोगों को साथ
बचा लिया विद्यार्थी जी ने कितने ही असहाय अनाथ ।[117]

प्रकृति भी मानव को मृदुता का पाठ पढ़ाती है । उसके विभिन्न रूप उसके स्वभाव के परिचायक हैं । विभिन्न ऋतुओं के अनुसार वह कैसा ही रूप क्यों न धारण करे लेकिन यही आश्वासन देती है कि वह शीतल है :

यह आश्वासन जाग उठा है मेरे अन्तस्थल का,
शतसहस्त्र ग्रीष्मों में भी है रक्षित रस शीतल का ।[118]

मृदुता युक्त मानव सब के सुख की कामना करता है । उसे-प्रकृति का कण-कण मधुर तथा सुख देने वाला प्रतीत होता है :

ऋतु पुरुष हैं, वायु मधुमय बह रही ।
स्रोत निर्झर मधु उछाल रहे सतत,
सकल, औषधियाँ मधुर मधु युक्त हैं
रात्रियाँ मधुरा, उषाएँ माधुरी,
मृधु मधुर पृथिवी जलद दिवलोक हैं,
वन वनस्पतियाँ समधु, मधुमन्त रवि
माधवी गायें सु-मधु पय दे रहीं ।[119]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त के काव्य में मृदुता रूपी मानव-मूल्य का विशद् एवं व्यापक चित्रण हुआ है ।

4. झ सहानुभूति :

वैयक्तिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित मूल्य 'सहानुभूति' मानव के अन्तःकरण का

प्रमुख गुण है । मानव की श्रेष्ठता भी उसके आन्तरिक गुणों के कारण ही प्रतीत होती है। दूसरों के दुःख में दुःखी होना, रोगी, गरीब तथा अनाथ को देखकर मन में हलचल होना तथा उनके प्रति दया का भाव उत्पन्न होना ही सच्ची सहानुभूति है। सियारामशरण गुप्त के काव्य में सहानुभूति के गीत यत्र-तत्र प्राप्य हैं । उनके द्वारा रचित कई कविताओं में संवेदना तथा मानवीयता के हृदयस्पर्शी भाव हैं जो उनके अन्तर्मन की व्यथा को प्रकट करते हैं । ऐसी ही सहानुभूतिपूर्ण 'दैनिकी' काव्य में संग्रहीत कविता 'विकलांग' है । विकलांग शब्द को गुप्त जी ने श्लिष्ट अर्थ में लिया है । उनका मन्तव्य है -- विकलांग शरीर से ही नहीं ; मन से, संकल्प से, विचार से तथा दृष्टि से भी हो सकता है । उन्होंने इस कविता द्वारा ऐसे लोगों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है जो अखबारों में नित्य प्रति मरने वालों के समाचर पढ़कर भी पाषाणवत् रहते हैं । ऐसे लोगों को कवि सहानुभूतिहीन मानता है :

उनके लिए किसी के उर में उठी न करुणा लहरी
उनकी मरण-यातना में भी बोध शक्ति है बहरी ।[120]

'अनाथ' काव्य के आरम्भ में ही उनके हृदय में सहानुभूति की लहर उठने लगती है कि किस प्रकार अनाथ के घर के कारुणिक दृश्यों का अवलोकन करेंगें :

किस प्रकार यह दृश्य आज हम अवलोकेंगे,
किस प्रकार अविराम अश्रु-धारा रोकेंगे ?
पर हे हरि, दृग आज खूब आँसू बरसावें
दुःख, शोक, सन्ताप सभी जिसमें बह जावें ।[121]

कवि की सहानुभूति उन किसानों से भी है, जो खून-पसीना एक करके अन्न उपजाते हैं, लेकिन उस अन्न पर उनका कोई अधिकार नहीं क्योंकि वह तो साहूकार आदि

के गोदामों की शोभा को बढाता है :

लहू-पसीना एक कर हम अन्न उपजाते यहाँ
पर वही अपना अन्न ही क्या हम कभी पाते यहाँ ?
कुछ तो हड़प जाते हमारे सेठ साहूकार हैं,
बाकी बचे को छीन लेते हाय ! मालगुजार हैं ।[122]

कवि की सहानुभूति उन लोगों से भी है जिन्हें हमारा समाज अछूत मानता है। ऐसे ही अन्धविश्वास के कारण अछूत कन्या देवी के मन्दिर का फूल तक प्रसाद में नहीं पाती और मृत्यु को प्राप्त हो जाती है । फूल लेने गए उसके पिता को भक्तजन अछूत कहकर मंदिर की शुचिता भंग करने के आरोप में न्यायालय से सात दिनों के कारावास की सजा दिलवाते हैं । पिता के आने तक वह कन्या राख की ढेरी में परिवर्तित हो चुकी होती है :

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर छाती धधक उठी मेरी
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी ।[123]

प्राकृतिक आपदाओं द्वारा संतप्त जनों से भी कवि की सहानुभूति है । 'बाढ़' कविता में ऐसे ही मार्मिक दृश्यों का चित्रण है :

दाबे हुए बालक को काँख में, प्लावित प्रवाह भर आँख में,
बहती अभागी एक माता यह,
छूट गया एकाएक हाय अरे ! बच्चा वह,
डाल छोड़ जननी भी जाती है,
प्राण के भी प्राण का पता न किन्तु पाती है ।[124]

कवि वृद्धजनों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए कहता है :

हे प्रणम्य वृद्ध । इस खाट पै पड़े हुए

मृत्यु के से घाट पै अड़े हुए

देते हो दिखाई तुम,

हो रहे हो आप अपने को दुःखदायी तुम ।[125]

कानपुर दंगों में मारे गए निर्दोष लोगों की याद में उनके नयन अश्रुपूरित हो उठते हैं । घरों से बेघर हुए लोगों से गणेश शंकर विद्यार्थी की पूरी सहानुभूति है । वे कहते हैं :

विद्यार्थी जी ने मधु-मिश्रित

करके करुण दृष्टि-निक्षेप

लोगों के विक्षत घावों पर

लगा दिया ठण्डा सा लेप ।[126]

युद्ध में मारे गये निर्दोष लोगों के प्रति कवि के हृदय में सहानुभूति है तभी वे युद्ध करने तथा अस्त्र-शस्त्र चलाने वालों के प्रति आक्रोशित हैं । वे कहते हैं इतने लोगों को तो मार दिया है अब क्या बचा है :

नरशोषित की प्रलयकारी इन बाढ़ों में

डूब सके हैं नहीं अभी तक घुटने तेरे

कितना महा विनाश अरे ओ घृण्य अरे रे,

अब भी है अवशिष्ट ?[127]

कवि की सहानुभूति केवल मानव के प्रति ही नहीं मानवेतर जड़-चेतन के प्रति भी है । दाना न मिलने से मृत्यु को प्राप्त हुई श्यामा नामक गाय के प्रति उन्हें पूर्ण सहानुभूति है क्योंकि यह भी प्राणी है :

लिपट गया श्यामा से दुःखिया, हृत थी उसकी वाणी

पशु थे तो पशु, नर थे तो नर, ये दोनों ही प्राणी ।[128]

पशुओं में भी प्रेम की भावना होती है । अपने स्वामी के प्रति वे पूर्ण वफादार होते हैं । नोआखाली में मारे गए अपने स्वामी के घर की रखवाली करने वाले कुत्ते को सम्बोधित कर कवि कहता है :

मात्र एक प्राणी, इस घर का कुत्ता, हाय ! कहूँ कैसे
गला फाड़कर न रो, न रो यों न हो अधीर विकल ऐसे ?[129]

क्रूस को उठाने वाले ईसु के प्रति भी कवि पूर्ण समर्पित है । ईसु के रूप में कवि ने तत्कालीन देश प्रेमी नेताओं का वर्णन किया है । जिन्हें देश को स्वतन्त्र कराने में कठिनाइयों का सामान करना पड़ा । वे सोचते हैं काश मैं भी उनकी सहायता कर सकता :

मनुज के दुर्दान्त अनयाचार की क्रूरता साकार है जिस क्रूस में
सहन करने योग्य यह मेरे कहाँ ? वहन कर सकते इसे हैं ईसु ही ।
तदपि मेरी भी पुकार हुई यहाँ, ईसु दुर्बल है, करूँ सहाय्य कुछ ।[130]

सम्राट अशोक के हृदय में भी कलिंग युद्ध में मारे गए लोगों के क्षत-विक्षत शवों को देखकर सहानुभूति की लहर दौड़ गई थी :

राजभवनों से दरिद्र कुटीर तक मनुज कितने भी जहाँ जो रहे
सब किसी का शोक भागी हूँ यहाँ, सर्व बन्धु अशोक निस्सन्देह हूँ।[131]

लक्ष्मण के घायल हो जाने पर राम की विक्षिप्तावस्था से कवि को पूर्ण सहानुभूति है । तभी तो राम के रूप में स्वयं कवि कहता है :

तुमको न लेकर साथ हम साकेत में जब जायेंगे
तब उर्मिलायुत पुरजनों को किस तरह समझायेंगे ।[132]

सूखे हुए फूल तथा पत्तों से भी कवि को लगाव है । वे मुरझाये फूल को देख द्रवीभूत होकर कह उठते हैं :

अभागे फूल, मुरझाने लगा तू, सताया काल से जाने लगा तू
अभी अच्छी तरह खिल भी न पाया कि तुझ पर हाय ! ऐसा दुःख आया।[133]

सियारामशरण गुप्त के काव्य में यत्र-तत्र सहानुभूति के गीत गुंजित हैं । ये ऐसे गीत हैं जिनके गुनगनाने से सहृदय का अन्तःकरण भी सहानुभूति के रस में निमग्न हो जाता है । उसके अन्दर की मानवता चीत्कार कर उठती है । वह सभी पीड़ाओं को भूल लोगों से विद्वेष मिटाने को कहता है । कवि की वाणी उसे स्वयं की वाणी प्रतीत होती है और कह उठता है :

यह पीड़ा यह व्यथा मानवात्मा की सारी
जिसका अनुभव मुझे स्वयं है अपने भीतर
हरण कर सको, अमृत हलाहल में से पीकर
कर दूँ आओ, आज तुम्हें कुंकुम का टीका
सबके हित में लाभ करो नव विजयश्री का ।[134]

इस प्रकार सहानुभूति का विशद् एवं व्यापक निरूपण सियारामशण गुप्त के काव्य में हुआ है ।

4. ञ सहयोग :

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है । दूसरे के दुःख को देखकर दुःखी होना तथा सुख को देखकर सुखी होना मनुष्य का स्वभाव है । इसी प्रकार परस्पर सुख-दुःख में एक दूसरे का सहयोग करना भी मानव का स्वभाव है । सहयोग की भावना मानव के उत्तम स्वभाव का लक्षण है । समाज के हर वर्ग का निःस्वार्थ भाव से सहयोग करना ही सच्ची

मानवता है । सियारामशरण गुप्त भी सहयोग में पूर्ण विश्वास करते हैं । परस्पर सहयोग के बिना व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का कल्याण संभव नहीं है । अतः सहयोग की भावना सबके अंदर होनी चाहिए । इससे मानवता का विकास होता है । उनके सम्पूर्ण काव्य में इस वैयक्तिक मानव-मूल्य का वर्णन हुआ है । वे स्वयं सहयोगी वृत्ति के थे । अनाथ, दुःखी, निर्बल, असहाय, रोगी सभी की सहायता उन्होंने की है तथा अपने काव्य द्वारा लोगों को प्रेरित भी किया है । परस्पर सहयोग से बड़े से बड़े कार्य को भी आसानी से किया जा सकता है :

पाकर उसकी ही सहायता
सत्वर बिना प्रयास
विपद-सिन्धु हम तर जावेंगे
है हमको विश्वास ।[135]

अबोध बालक अपने माता-पिता का सहयोग पाकर ही आगे बढ़ता है । माँ का सहयोग बालक के लिए महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि माँ की गोद से ही वह सर्वप्रथम विश्व-दर्शन करता है । वह स्वयं माँ के सहयोग को याद करते हुए कहता है :

मेरे सुख में सुख था तुझे, दुःख में दुःख रहा सदा
मुझसे सर्वत्र अभिन्न था, तेरा तन-मन सर्वदा ।[136]

धनी और सबल जनों के सहयोग से दुःखी और निर्धन भी नवजीवन को प्राप्त करता है । दाता भी सहृदय होकर उसका सहयोग करते हैं :

कहता है -- ले वस्त्र पहन ले, रूप न रख नंगे का,
उस बरामदे में जा टिक रह, घूम न भीखमंगे सा

दाता के नव दयादान से उसने सब कुछ पाया

चिर कृतज्ञता के बस झुककर अपना हाथ बढ़ाया ।[137]

परस्पर साथ मिलकर दैत्य और देवताओं ने समुद्र मंथन तक कर दिया था और दुर्लभ अमृत को प्राप्त किया था । इसलिए कवि भी कहता है हम सबके भीतर अलौकिक शक्ति है । सब मिलकर शक्ति का उपयोग करें तो असंभव कार्य को भी संभव किया जा सकता है :

हम सब के भीतर रक्षित है

अतुल अलौकिक शक्ति

तो आओ, मिलकर उखाड़ लें

यह मन्दर गिरि तूर्ण ।[138]

विषम परिस्थितियों में भी यदि सब परस्पर एक दूसरे का सहयोग करें तो बड़ी से बड़ी चुनौती का भी सामना किया जा सकता है :

हम सब जैसे एक जहाँ जितने भी पीड़ित,

मानो किसी असीम अतुल में हैं सब प्रसरित ।

हार मानकर नहीं बैठ रह सकते हैं अब

एक हार में एक सूत्र से विजड़ित हैं सब ।[139]

कवि कहता है हमने स्वतन्त्रता पाई है वह भी सहयोग के बल पर । भारतवासियों के सहयोग का ही परिणाम है कि आज भारत-भूमि स्वतन्त्र है :

पद में पड़ी एक ही बेड़ी इसका बंधन तोड़ -

एक यहाँ हम हृदय-हृदय में भेदभाव सब छोड़

कण्ठ-कण्ठ में घोषित हो हम पैंतीस करोड़,

सिलकर मिले एक सूची में कहाँ हमारी होड़ ।[140]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में मानवता का विकास करने वाले प्रमुख मूल्य सहयोग का व्यापक रूप में प्रतिपादन किया है ।

4. ट विश्वबन्धुत्व :

वैयक्तिक मानव-मूल्यों के रूप में विश्व-बन्धुत्व को भी स्थान दिया गया है । यह एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति-व्यक्ति को तो परस्पर जोड़ती ही है साथ ही एक देश को दूसरे देश से भी जोड़ती है । वैदिक काल से ही विश्वमानवतावाद का प्रबल समर्थन होता रहा है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भी इसी मत की पुष्टि करती है । आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने आत्म-संयम, आत्म-त्याग, सत्य, अहिंसा, मानव-सेवा, स्वतंत्रता, समानता आदि सिद्धांतों के द्वारा विश्वमानवतावाद का प्रबल समर्थन किया। उनका मत है -- मानव मानव में कृत्रिम रूप में निर्मित भेदभाव की दीवारें गिरा दी जायें, क्योंकि वर्ण, जाति, भाषा और देशों की सीमा रूपी भेद मानव के भेदमूलक मस्तिष्क की उपज है । इन संकीर्णताओं को छोड़कर एक विश्व की स्थापना करना बापू का उद्देश्य था। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के प्रबल आकांक्षी थे -- सियारामशरण गुप्त । उन्हें अपने देश से अत्यन्त प्रेम था, अपनी जन्मभूमि से असीम प्यार था, फिर भी वे विश्वबन्धुत्व भावना के प्रबल पोषक थे क्योंकि इस भाव के जागृत होने पर अशान्ति, युद्ध तथा घृणा आदि इस वसुधा से समाप्त हो जायेंगे और सर्वत्र प्रेम और भाईचारा ही परिलक्षित होगा । कवि के अनुसार सभी ईश्वर की संतान हैं तथा सम्पूर्ण धरती पर सबका समान अधिकार है :

वायु एक ही है एक ही है प्रकाश
जीवन के दुःख-सुख एक ही शुभाभिलाष ।
विश्व के मनीषी कवियों से ऋषि-मुनियों से

मा भैः की, मा भैः की ध्वनियों से

पूरित है तेरा यह एक ही अनन्ताकाश ।[141]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीव-जन्तुओं के कल्याण की प्रार्थना करते हुए कवि कहता है :

प्रेमपूर्वक क्षेम से कल्याण से

जीव सब अक्षत सुसंयम से रहें ।[142]

मानव की मानवता केवल निज के लिए नहीं है । वह सम्पूर्ण विश्व के लिए है :

केवल निज के लिए नहीं ; निज का निजपन सब

निखिल विश्व के साथ हुआ है सम्बंधित अब ।[143]

विश्वबन्धुत्व का पाठ यही सिखाता है कि इस धरती पर रहने वाले सभी लोग बंधुवत् हैं तथा मानव हैं । एक व्यक्ति की पीड़ा सभी की पीड़ा है :

मनुज न हो तो हिन्दू, मुस्लिम,

बौद्ध, जैन, सिख ईसाई,

इसकी पीड़ा ले आकर

वे सब जिनमें हों भाई ।[144]

प्राकृतिक वस्तुएँ कभी किसी से भेद-भाव नहीं करतीं । उनके लिए तो सभी समान हैं :

उसने सब कुछ कर निमग्न-निज नीले जल में

मिटा दिया है भेद धरा-तल, पर्वत-तल में ।[145]

उस ईश्वर की सभी संतानें एक समान हैं :

सन्ततियाँ तेरी एक ही समान

हिन्दू, बौद्ध, क्रिश्चियन, पारसी मुसलमान ।[146]

माँ के लिए भी सम्पूर्ण विश्व एक ही है :

माँ के लिए सारा विश्व-सारा है ।[147]

हम प्रार्थना भी सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए मिलकर करें:

प्रार्थना है आज जन-जन की

जन की न हो के यह जनता की जय हो ।

निखिल भुवन की

पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी हो अभय हो ।[148]

विभिन्न देशों के नाम लेकर हम उन्हें अलग भले ही मान लें परन्तु वे सभी एक-दूसरे का स्पर्श कर रहे हैं । इसलिए वे अलग होकर के भी एक हैं :

मिश्र है, यूनान है, वह रोम है

यह रहा भारत, वहाँ है चीन वह,

एशिया, यूरोप, विस्तृत अफ्रीका,

युक्त अमरीका अनेक-अनेक वे,

एक को सब एक दूसरे हैं छू रहे।[149]

परस्पर भेदभाव तथा सीमाओं के बन्धन को भुलाकर विश्वबन्धुत्व का पाठ

पढ़ाना ही कवि को अभीष्ट था । उन्होंने 'बापू' को उस धागे के समान माना है जिसमें सभी राष्ट्र आकर बँध जाते हैं :

एक राष्ट्र यह एक प्राण-मन
छिन्न-भिन्न कर सौ-सौ बन्धन
अखिल विश्व में एक सूत्र बन
अनायास उद्धृत है आज ।[150]

कवि ने स्वयं को विश्व का प्राणी घोषित किया है । इस विश्व में न कोई छोटा न कोई बड़ा है । सभी प्रेम-रूपी जल से सिंचित प्राणी हैं :

विपुल को, विस्तीर्ण को निज पाश में
भर लिया मैनें अचानक भर लिया
मैं निखिल का हूँ, निखिल मेरा हुआ
बृहत में लघु और लघु में बृहत ।[151]

इस प्रकार अखिल विश्व को एक परिवार के रूप में देखने वाले सियारामशरण गुप्त का समस्त काव्य विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाता है ।

4. ठ प्रेम :

प्रेम मानव-मन की शाश्वत वृत्ति है तथा प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकता है । इस चराचर विश्व की संरचना प्रेम का ही प्रतिफल है । जीवन-व्यापी प्रेम की पीठिका पर जन्म लेने के कारण प्रत्येक प्राणी के जीवन में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव जीवन की सुख-दुःखात्मक मनोवृत्तियों में से प्रेम का सम्बंध सुखद अनुभूतियों से ही रहता है । अतः प्रेम वह सुखद अनुभूति कही जा सकती है जो किसी व्यक्ति अन्य जीव या पदार्थ

के सौन्दर्य गुण, शील, सामीप्य आदि के कारण उत्पन्न होती है ।[152] अतः प्रेम का सार दो सत्ताओं के मिलन में है । प्रेम ही वह सूत्र है, जो दो पृथक् तत्त्वों को संयुक्त करता है।

'प्रेम' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'प्रेमन्' शब्द से हुई है । जिसकी रचना 'प्री' धातु में मानिन प्रत्यय लगाने से होती है । 'प्री' का अर्थ है -- प्रसन्न करना, आनन्द लेना या आनन्दित होना । ..... इस प्रकार प्रेम, सौहार्द्र, स्नेह और हर्ष का संचार करने वाला शब्द है ।[153] डॉ. रामचन्द्र वर्मा ने 'मानक हिन्दी कोश' में 'प्रेम' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी है -- ''संस्कृत के 'प्रिय' शब्द में 'इमाचित्' प्रत्यय लगाने से 'प्र' आदेशपूर्वक सम्पन्न हुआ है । तदनुसार प्रिय का भाग या प्रिय होना ही प्रेम है । प्रेम किसी के मन में उत्पन्न होने वाला वह कोमल भाव है, जो किसी ऐसे भाव, वस्तु, बात या व्यक्ति के प्रति होता, जिसे वह बहुत अच्छा, प्रशंसनीय तथा सुखद समझता अथवा जिसके साथ वह अपना घनिष्ठ सम्बंध बनाए रखना चाहता है । अपने विशुद्ध और विस्तृत रूप में यह ईश्वरीय तत्त्व या ईश्वर का व्यक्त रूप माना जाता है और सदा स्वार्थ रहित दूसरों के सर्वतो मुख कल्याण के भावों से ओत-प्रोत रहता है । इसमें दया, सहानुभूति प्रचुर मात्रा में होती है ।''[154]

प्रेम अपने आप में अत्यंत व्यापक और अर्थगर्भित शब्द है । इसमें अनेक प्रकार

के अर्थ समाहित हैं । प्रेम ही वह मनोवृत्ति है जिसके अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति आदि के सम्बंध में यह इच्छा होती है कि वह सदा हमारे पास या साथ रहे उसकी वृद्धि, उन्नति या हित हो अथवा हम उसका भोग करें ।[155]

प्रेम मानव मन का वह मृदुल भाव है जो किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति सहज ही उत्पन्न हो जाता है । प्रेम मानव में रागात्मक वृत्ति का संचार करता है । प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि वह इस पंच तत्व युक्त संसार को अपने वश में किए हुए है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं -- ''साधारणतः प्रेम शब्द का अभिप्राय उस मनोवृत्ति से लिया जाता रहा है जो किसी व्यक्ति की दूसरी के सम्बन्ध में उनके रूप, गुण स्वभाव, सान्निध्य आदि के कारण उत्पन्न कोई सुखद अनुभूति सूचित करती है तथा जिसमें दूसरे के हित की कामना भी बनी रहती है।''[156]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेम की परिभाषा देते हुए कहा है -- ''वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था में आया हुआ राग ही वास्तव में अनुराग या प्रेम है ।''[157]

प्रेम का सम्बंध मानवीय समाज से है । समाज में रहकर ही प्रेम का उदय होता है । डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है -- ''मानवीय सौन्दर्य को सरस और सृजनशील बनाने के लिए प्रेम की बहुत अधिक आवश्यकता होती है ।''[158] प्रेम समाज की प्रगति में बाधा नहीं डालता अपितु उसके चरम विकास का साधन है । प्रेम की महत्ता और उसकी प्रासंगिकता के संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह का मत है -- ''व्यावसायिक प्रसार के कारण आधुनिक युग में मनुष्य के बीच जो मानवीय सम्बंध के स्थान पर व्यावसायिक सम्बंध स्थापित हो गया है, उसकी शुष्कता को मिटाने में इस प्रेम-भावना ने बहुत बड़ा काम किया है ।''[159]

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय प्रेम के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं -- ''प्रेम

एक ऐसा सशक्त गुंफित, अनादि एवं परस्पर व्यापी भाव है या एक ऐसा बोध है जो किसी के सामीप्य, साहचर्य और एकात्मता की कामना करता है । अनन्यता, अनुकूल वेदनीयता स्वार्थपरता और त्याग की भावना से युक्त होता है । किसी पर अधिकार की चाह कृपा तथा उसकी सुख समृद्धि की इच्छा करता है और हर तरह के खतरे झेलकर भी उसमें सहायक होता है । तृप्ति की इच्छा और आवश्कता से उत्पन्न यह एक समर्पणमय रोग है जो अहम् और काम से आरम्भ होकर निरंहकारिता और निष्काम समर्पण की पराकाष्ठा तक पहुँचता है तथा व्यक्ति की सीमाओं में से निकलकर सम्पूर्ण सृष्टि की सीमाओं में बिखर जाता है । इसका प्रसाद मनुष्य के सम्पूर्ण कर्त्तृत्व में हो जाता है ।''[160]

सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में प्रेम को शाश्वत मूल्य के रूप में स्वीकार किया है । प्रेम मानवीय भावना का दिव्य रूप है । प्रेम के इस परमोच्च और पूर्ण आदर्श से ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि भाव स्वतः नष्ट हो जाते हैं । इसलिए कवि प्रेम का गुणगान करते हुए सबसे प्रेम करने को कहता है :

प्रेम करो, प्रेम, प्रेम !
प्रेम है स्वयं ही प्रेम
प्रेम की ही अन्त में विजय है
प्रेम रत्न नित्य ज्योतिर्मय है ;
फैला दो उसी का मृदु दीप्ति हास
हिंसा के तमिश्र का स्वयं हो हास ![161]

परस्पर प्रेम करने पर प्रेम ही मिलता है तथा द्वेष करने पर द्वेष । हम सब ईश्वर की सन्तान हैं इसलिए मन से विद्वेष की भावना निकाल देनी चाहिए :

प्रेम करोगे प्रेम मिलेगा द्वेष करोगे तो विद्वेष

उसी एक के बन्दे हैं सब, मन से दूर करो यह द्वेष ।[162]

वैयक्तिक मानव-मूल्यों के रूप में कवि ने प्रेम के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। जिनमें माता-पिता का सन्तान के प्रति प्रेम, सन्तान का माता-पिता के प्रति प्रेम, भातृ-भगिनी प्रेम, पति-पत्नी प्रेम, मित्र-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम आदि।

माता-पिता का सन्तान के प्रति प्रेम : माता-पिता अपनी सन्तान से निस्वार्थ भाव से प्रेम करते हैं । सन्तान का हर सुख-दुःख, माता-पिता का सुख-दुःख है । स्वयं कष्ट सहते हुए भी वे संतान का उचित रूपेण पालन-पोषण करते हैं । सन्तान प्राप्ति की आशा में विभिन्न देवी-देवताओं का आश्रय लेते हैं :

कामना माता मही के चित्त में
एक निज कुलजात मानव पुत्र की
केन्द्रगत कर धाम चारों एक में
की असंख्य प्रदक्षिणाएँ सूर्य की,
दिग्दिगन्त अनन्त तीर्थों में फिरी
अनगिनत आग्नेय वृत अविरत किये ।[163]

जन्मोपरान्त से ही बालक अपनी माँ की ममता की छाँह में पालित-पोषित होता है तथा निर्भीक होकर जग प्रांगण में विचरण करता है :

लाड़-प्यार-दुलार में पलता हुआ
उतर जब मातृ-अंक उदार से
गगन प्रांगण में विचरना चाहता ।[164]

सन्तान के रोग - व्याधि युक्त होने पर इनका हृदय वेदनायुक्त हो जाता है । वे

हर उपाय कर उनके जीवन की रक्षा करते हैं :

मेरी जानकी को हाय !

हो गया है सन्निपात कौन सा करूँ उपाय ?

बेटी, नेत्र खोल देख मैं हूँ कौन

कैसी तू पड़ी है मौन ?[165]

अपनी सन्तान की इच्छा पूर्ण न कर पाने पर उन्हें ग्लानि होती है :

अन्तिम बार गोद में बेटी तुझको ले न सका मैं हा ।

एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हा ।[166]

सन्तान भी मातृ-छाह में स्वयं को सुरक्षित महसूस करती है :

बच्ची एकाएक रो उठी इसी समय सोते-सोते ।

लगा उसे छाती से उसने चूमा स्थिर होते-होते ।

बिना कहे कह दिया कि - रो मत हूँ मैं तो पृथ्वीतल पर ।

मातृ-मूर्ति की आभा झलकी उसके मृदु मुख मण्डल पर ।[167]

माता अपनी सन्तान पर प्रेम रूपी अमृत की ही वर्षा करती है । उसका ज्ञान अति अमूल्य होता है । बच्चे माँ को कितना ही तंग करें वह तो बस प्रेम लुटाती है :

काटा मैंने नई उठी दँतुली से तुझको

किया और भी अधिक प्यार तब तूने मुझको

छीट दिया जल, शीतकाल में तेरे ऊपर

तब भी तूने प्रेम किया माँ, मेरे ऊपर ।[168]

अपने मृत पुत्र की याद को भी माँ कभी नहीं भूला पाती । वह स्वप्न में उससे मिलने का प्रयत्न करती है :

सुन तू मेरे वत्स ! नहीं भूली मैं तुझको !

एक निमिष के लिए गोद भरने दे मुझको !

आ तू मेरे निकट । हाय ! यह मेरी वाणी सुन पाता तू नहीं ।[169]

गुप्त जी ने माता-पिता को मातृत्व तथा पितृत्व गुणों से समन्वित दर्शाया है :

मात्र जननी थी नारी, वह भर उठी है वक्ष भर मातृत्व से

जनक जो था नर, उठा है प्रेमपूर्ण पितृत्व से वह नृत्व से ।[170]

इस प्रकार अनेक तरह से सियारामशरण गुप्त ने माता-पिता के सन्तान के प्रति प्रेम को उद्‌घाटित किया है ।

सन्तान का माता-पिता के प्रति प्रेम : माता-पिता अपनी सन्तान से प्रेम करते हैं और सन्तान भी अपने माता-पिता से प्रेम करती है तथा अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करती हुई उनके ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करती है । सन्तान भी माता-पिता के कष्टों को देख दुःखी होती है :

माँ क्यों आज दिनभर रोती रहीं,

आँसुओं से अंचल भिगोती रहीं ?

जाने हो गई क्या बात,

जान पड़ता है, जाग के ही है बिताई रात ।[171]

पिता के मनोभावों को भी वह पढ़ लेती है :

बापू हैं स्वयं अधीर

पीड़ा है उन्हें गंभीर ।[172]

पुत्र किसी भी प्रकार से अपनी माँ के कष्टों का निवारण करना चाहता है । यदि वह असमर्थ होता है तो स्वयं को ही धिक्कारता है :

जाग सी उठी है हूक छाती हुई जाती टूक-टूक

सोचकर माँ की व्यथा, चिन्ता, वेदना, अपार ।

धिक्, धिक् वार वार मुझको,

सहने पड़े माँ, कष्ट मेरे लिए तुझको ।[173]

माता-पिता के प्रति श्रद्धावान सन्तान सुख प्राप्ति के लिए पुनः पुनः जन्म लेना चाहती है :

मैं बार-बार फिर जन्म लूँ

वह सुख पाने के लिए

तो भी हे जननी, तनिक भी

तृप्ति नहीं होगी हिए ।[174]

भातृ-भगिनी प्रेम : भाई-बहन का अथवा भाई-भाई के प्रेम का अत्यन्त सुष्ठु रूप सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित है । कवि ने राम-लक्षमण का प्रेम तथा पाण्डवों के प्रेम के साथ-साथ अन्य काव्य-पात्रों के माध्यम से इस प्रेम को अभिव्यंजित किया है । परिवार का बड़ा भाई स्वयं को कष्ट देकर भी अपने अनुजों को सुखी देखने का अभिलाषी होता है :

देख छोटे भाई का क्लेश दुःख होता था उसे विशेष

नहीं रुकता था अश्रु प्रवाह, निकलती भी बस मुँह से आह ![175]

माँ की मृत्यु के पश्चात् बड़ी बहन ही छोटों का भार उठाने को उद्यत हो जाती है :

पोछे निज नेत्र-नीर अञ्चल के पट से,

जीजी गई उसके समीप झट से ।

ज्यों-ज्यों कर मन को कड़ा किया

और पुचकार उसे गोद में उठा लिया ।[176]

भातृ-स्नेह के फलस्वरूप ही युधिष्ठिर ने अपने चारों भाइयों को मृत्यु मुख से बचा लिया था। नकुल भी युधिष्ठिर जैसे भ्राता को पाकर स्वयं को धन्य समझते हैं :

कहा नकुल ने - 'तात, धन्य है मेरा जीवन
सोच रहा हूँ, कौन अधिक मुझसे सुकृत जन ?[177]

लक्ष्मण तो राम के प्राण के आधार हैं । युद्ध भूमि में लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर राम विलाप करते हुए कहते हैं :

हे वीर ना हो, तुम समर में अग्नि सम दुर्बार हो,
यह नींद त्यागो तुम हमारे प्राण के आधार हो ।[178]

पति-पत्नी प्रेम : सियारामशरण गुप्त ने नारी को नर की पूरिका के रूप में देखा था । उनका मानना था कि नर और नारी जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं । अगर एक पहिया भी खराब हो जाये तो गाड़ी का पतन निश्चित है :

सर्व क्षेत्रों में निरंतर संगिनी
पार्श्व में नारी पुरुष के सर्वदा ।[179]

पति-पत्नी के सम्बंधों का सुमधुर, मनोहर, कल्याणकारक एवं सरस चित्रण कवि ने किया है । पति-पत्नी का प्रेम प्रेयमार्गी प्रेम है । जिसे गुरुजनों के समक्ष प्रकट नहीं किया जा सकता परन्तु यह सर्वदा और सर्वत्र रहता है :

गुरुजनों के सामने वे किस प्रकार,प्रकट कर दें आन्तरिक उच्छवास प्यार
छोड़ लज्जा धर्म प्रियतर प्रेम यह घोर घूँघट डाल, बंधुओं की तरह
गुप्त रखना ही यहाँ पर है विधेय सर्वदा सर्वत्र । वे यह प्रेम प्रेय ।[180]

पति अपनी पत्नी के प्रेम को कदापि नहीं भूला सकता क्योंकि वे दोनों जीवन के चिरसंगी हैं :

कैसे भूला जा सकता है तेरा प्रणय-प्रकाश,

जीवन के प्रत्येक श्वास में है उसका आभास

तन में, मन में, रोम-रोम में, नख से शिख पर्यन्त

लिखकर तू रख गई स्नेहमयी ! अपना स्नेह अनन्त ।[181]

संसार के सुखों का भोग भी दोनों मिलकर ही करते हैं :

तदपि ये पति-पत्नी मुदमान

जागते हैं अब तक स्वच्छन्द

ले रहे, भूल और सब भान

नये वैभव का नव-आनन्द ।[182]

पत्नी के समीप न रहने पर अथवा घर से बाहर जाने पर पति का मन विह्वल हो उठता है। उसे घर भी सूना-सा लगता है :

था कुछ उत्सव । वहीं गई थी पत्नी प्यारी

निज घर की भी तरल कलोत्सव-धारा सारी,

लेकर अपने साथ । यहाँ सूने में प्रति पल

डाक्टर का मन विमन हो रहा था अति विह्वल ।[183]

मित्र-प्रेम : कवि ने मित्र-प्रेम का भी अद्‌भुत वर्णन किया है । उनके अनुसार सच्चा मित्र वही है जो प्राणों का त्याग करके भी मित्र के प्राणों की रक्षा करे :

आज रो रही है एक मेरी माँ ;

कैसे मैं रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?

दुःख एक माँ का है, असह्य मुझे इतना ;

अन्य साथियों का गला,

कैसे जानबूझ के फँसा दूँ भला।[184]

मित्र का कष्ट देख मित्र भी कष्ट का अनुभव करता है :

इतने दिनों के बाद
देखकर मित्र तुम्हें आज इस वेश में
कठिन निवेष में प्रेमोत्सुक उर का प्रमादोन्माद
पलट गया है श्रान्ति-क्लान्ति अवसाद में
विषाद विषाद में ।[185]

राष्ट्र-प्रेम : मातृभूमि के प्रति अनुराग की भावना ही राष्ट्र को गौरव के उन्नत शिखर पर आसीन कर सकती है । देश की सुख-समृद्धि, प्रसन्नता, विकास आदि का उत्तरदायित्व मानव पर है । यदि मानव इस उत्तरदायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह नहीं करता है तो देश का एवं मानवता का विकास असम्भव है । इन्हीं भावनाओं से आपूरित होकर महाराणा प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, सुभाषचन्द्र जैसे असंख्य वीरों ने प्राणों की बाजी लगाकर देश की रक्षा की है । भारत के कण-कण में राष्ट्र-प्रेम की भावना सन्निहित है । सियारामशरण गुप्त भी राष्ट्र प्रेमी हैं । उन्हें अपनी मातृभूमि भारत से अगाध प्रेम है । यहाँ रहने वाले भी परस्पर एक दूसरे से प्रेम करते हैं :

सब प्रेम सहित थे चाहते, एक दूसरे को सदा ;
सद्भाव-पद्म-परिपूर्ण थे, सबके मानस सर्वदा ।[186]

प्रत्येक भारतवासी अपने राष्ट्र से प्रेम करता है । अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी इसकी रक्षा करता है :

इसी मुल्क में हुए, और हम यहीं रहेंगे आगे भी

लड़-मर कर सह चुके बहुत, क्या और सहेंगे आगे भी ?[187]

देश के कल्याणकारी रूप का चित्रण करते हुए कवि ने देश-प्रेम की उदार पूर्ण भावना का सुन्दर चित्र खींचा है :

सर्व-समापन्न मन भावन तू
देश, अरे मेरे देश,
गौरव-धनी है पुरातन तू
मेरे अरे चिर निवेश ।[188]

कवि कहता है कि इस देश में चाहे कितना ही संकुचितपन हो, चाहे पाप हरण हो, चाहे जीवन ही क्यों न असुरक्षित हो फिर भी मैं अपनी वसुधा से प्यार करूँगा :

सम्पूर्ण अरक्षित आज यहाँ जीवन है
किस नये प्रेम से,वैर-विरोध-वरण है ।
इस वसुधा को मैं प्यार करूँगा तब भी
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है ।[189]

इस प्रकार प्रेम मानव हृदय की शाश्वत एवं अनिर्वचनीय अनुभूति है जो किसी व्यक्ति, वस्तु या जीव के प्रति सहज ही उत्पन्न हो जाती है । वास्तव में यही वह अनुभूति है जो मानव-मात्र को ही नहीं अपितु मानवेतर जगत् के सम्पूर्ण उपकरणों को भी एक सूत्र में बाँधे रखती है । प्रेम के कारण हृदय की समस्त जड़ता समाप्त हो जाती है । मानव संकुचित दायरे से निकलकर सम्पूर्ण मानवीय कल्याण का हित-चिन्तन करने लगता है । सियारामशरण गुप्त ने भी अपने काव्य में प्रेम के इसी रूप को अभिव्यक्ति दी है ।

निष्कर्षतः वैयक्तिक गुण ही वैयक्तिक मूल्यों (सत्य, अहिंसा, करुणा, त्याग आदि) के रूप में जाने जाते हैं । ये सभी मूल्य मानव नामवाची प्राणी के लिए अत्यावश्यक हैं । इन मूल्यों के आधार पर जीवन-यापन करने से मानव त्रिविध दुःखों से (आधिभौतिक, आधि दैविक, आध्यात्मिक) विमुक्त हो जाता है । इन गुणों के अभाव में बाह्य रूप मानवीय होने पर भी वह मानव नहीं रहता । इन्हीं वैयक्तिक मानव-मूल्यों की संपुष्टि सियारामशरण गुप्त के काव्य में हुई है ।

संदर्भ :

1. सियारामशरण गुप्त : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 99
2. वाचस्पत्यम् (भाग - 6) : तारानाथ तर्क वाचस्पति, पृ. 5207
3. बृहत् हिन्दी कोश : सं. कालिका प्रसाद, पृ. 1188
4. मानक हिन्दी कोश (खण्ड - 5) : सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. 262
5. भारतीय संस्कृति कोश : लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय', पृ. 932
6. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 1
7. वही, पृ. 1
8. यंग इण्डिया तथा हिन्दी जनजीवन : महात्मा गाँधी, 14.8.1924
9. गाँधी और गाँधीवाद : डॉ. पट्टाभि सीतारमय्या, पृ. 69
10. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 318
11. वही , पृ. 323
12. वही (खण्ड - 1), पृ. 306
13. वही (खण्ड - 2), पृ. 319
14. वही, पृ. 369
15. वही, पृ. 186
16. वही (खण्ड - 1), पृ. 398
17. महाभारत (अनुशासन पर्व), 97 / 96
18. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड -1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 86
19. वही, पृ. 306
20. वही (खण्ड -2), पृ. 158
21. वाचस्पत्यम् (भाग - 1) : तारानाथ तर्क वाचस्पति, पृ. 582
22. महाभारत (अनुशासन पर्व), 115 / 1
23. योगदर्शन : भाष्यकार उदयवीर शास्त्री, पृ. 51
24. गाँधी विचार दोहन : किशोरलाल मशरूवाला, पृ. 16
25. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय (खण्ड - 41), पृ. 192
26. गाँधीवादी और हिन्दी काव्य : भक्तराज शर्मा, पृ. 99
27. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड-1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 383
28. वही, पृ. 495
29. वही, पृ. 407
30. वही, पृ. 306

31.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड-1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 238
32.वही (खण्ड-2), पृ. 130
33.वही, पृ. 403
34.वही (खण्ड-1), पृ. 396
35.वही (खण्ड-2), पृ. 412
36.वही (खण्ड-1), पृ. 495
37.वही, पृ. 491
38.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 250
39.मानक हिन्दी कोश (खण्ड - 2) : सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. 466
40.चिन्तामणि (पहला भाग) : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 35
41.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 62
42.वही, पृ. 62
43.वही, पृ. 63
44.वही, पृ. 70
45.वही, पृ. 13
46.वही (खण्ड - 1), पृ. 73
47.वही, पृ. 87
48.वही, पृ. 147
49.वही, पृ. 149
50.वही, पृ. 192
51.वही, पृ. 212
52.वही, पृ. 255
53.वही, पृ. 483
54.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1011
55.वाचस्पत्यम् (भाग - 6) : तारानाथ तर्क वाचस्पति, पृ. 5097
56.मानक हिन्दी कोश (खण्ड - 2) : सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. 156
57.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड-1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 296
58.वही, पृ. 422
59.वही, पृ. 422
60.वही, पृ. 399
61.वही (खण्ड- 2), पृ. 332
62.वही, पृ. 166

63.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड-2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 42
64.वही, पृ. 42
65.वही, पृ. 71
66.वही, पृ. 130
67.वही (खण्ड-1), पृ. 130
68.संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 438
69.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 95
70.वही, पृ. 421
71.वही, पृ. 249
72.वही, पृ. 238
73.वही (खण्ड - 2), पृ. 127
74.वही, पृ. 321
75.वही, पृ. 130
76.वही (खण्ड - 1), पृ. 301
77.वही, पृ. 301
78.वही, पृ. 256
79.वही (खण्ड - 2), पृ. 303
80.वही (खण्ड - 1), पृ. 52
81.वही, पृ. 157
82.वही, पृ. 256
83.वही, पृ. 438
84.वही (खण्ड - 2), पृ. 375
85.वही, पृ. 377
86.वही, पृ. 377
87.वही, पृ. 381
88.वही, पृ. 397
89.वही, पृ. 401
90.वही, पृ. 404
91.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 316
92.वही, पृ. 316
93.जीवन-मूल्य : प्र. ग. सहस्त्रबुद्धे, पृ. 97
94.विदुर नीति, 34 / 74
95.महाभारत (अश्वमेघ पर्व), पृ. 115

96.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड -1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 63
97.वही, पृ. 95
98.वही, पृ. 122
99.वही, पृ. 260
100.वही (खण्ड - 2), पृ. 163
101.वही, पृ. 167
102.वही, पृ.306
103.वही, पृ. 399
104.वही, पृ. 96
105.वही, पृ. 327
106.नीतिशतकम् : सं. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृ. 61
107.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 267
108.वही, पृ. 266
109.वही, पृ. 266
110.वही, पृ. 466
111.वही, पृ. 436
112.वही, पृ. 400
113.वही, पृ. 361
114.वही, पृ. 349
115.वही, पृ. 312
116.वही, पृ. 277
117.वही, पृ. 247
118.वही (खण्ड - 2), पृ. 298
119..वही, पृ. 318
120.वही, पृ.13
121.वही, (खण्ड - 1) पृ. 69
122.वही, पृ. 86
123.वही, पृ. 118
124.वही, पृ. 211
125.वही, पृ. 212
126.वही, पृ. 240

127.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 476
128.वही (खण्ड - 2), पृ. 41
129.वही, पृ. 67
130.वही, पृ. 165
131.वही, पृ. 330
132.वही, पृ. 373
133.वही, पृ. 179
134.वही (खण्ड - 1), पृ. 496
135.वही, पृ. 178
136.वही, पृ. 191
137.वही (खण्ड - 2), पृ. 16
138.वही (खण्ड - 1), पृ. 370
139.वही, पृ. 494
140.वही (खण्ड - 2), पृ. 404
141.वही, पृ. 143
142.वही, पृ. 332
143.वही (खण्ड - 1), पृ. 495
144.वही (खण्ड - 2), पृ. 70
145.वही, पृ. 125
146.वही, पृ. 143
147.वही, पृ. 144
148.वही, पृ. 144
149.वही, पृ. 319
150.वही (खण्ड - 1), पृ. 394
151.वही (खण्ड - 2), पृ. 370
152.रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना : डॉ. बच्चन सिंह, पृ. 89
153.वाचस्पत्यम् (भाग - 6) : तारानाथ तर्क वाचस्पति, पृ. 450
154.मानक हिन्दी कोश (भाग - 3) : सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. 665
155.हिन्दी शब्द सागर : सं. डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 3244
156.हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह : पं. परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 146
157.सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 137-138
158.बिहारी का नया मूल्यांकन : डॉ. बच्चन सिंह, पृ. 31

159.छायावाद : डॉ. नामवर सिंह, पृ. 51
160.प्रसाद साहित्य : प्रेम तात्विक दृष्टि : डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ. 13
161.सियारामशरण रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 408
162.वही, पृ. 223
163.वही (खण्ड - 2), पृ. 370
164.वही, पृ. 370
165.वही (खण्ड - 1), पृ. 106
166.वही, पृ. 118
167.वही, पृ. 140
168.वही, पृ. 191
169.वही, पृ. 484
170.वही (खण्ड - 2), पृ. 344
171.वही (खण्ड - 1), पृ. 103
172.वही, पृ. 104
173.वही, पृ. 156
174.वही, पृ. 192
175.वही, पृ. 80
176.वही, पृ. 132
177.वही (खण्ड - 2), पृ. 102
178.वही, पृ. 373
179.वही, पृ. 314
180.वही, पृ. 314
181.वही (खण्ड - 1), पृ. 93
182.वही, पृ. 328
183.वही, पृ. 129
184.वही, पृ. 157
185.वही, पृ. 150
186.वही (खण्ड - 2), पृ. 139
187.वही, पृ. 136
188.वही (खण्ड - 1), पृ. 418
189.वही (खण्ड - 2), पृ. 37

पंचम अध्याय

सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित सामाजिक मानव-मूल्य

पंचम अध्याय

सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित सामाजिक मानव-मूल्य

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बंध है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । मानव-मानस की विशिष्ट एवं रमणीय की अनुभूति साहित्य है ।[1] यह अनुभूति समाज में रहने वाले मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होती है । 'मनुष्य के भीतर जो सर्जनशील चिन्तन काम करता रहता है वह तब तक इन्द्रिय ग्राह्य रूप की रचना में समर्थ नहीं होता जब तक बाह्य जड़ तत्त्वों की सहायता नहीं लेता ।'[2] इसीलिए मनुष्य को समाज की आवश्यकता पड़ती है । अनेक व्यक्तियों के मिलने से समाज का निर्माण हुआ । इस तरह समाज के कारण व्यक्ति का होना सम्भव हुआ । यदि समाज न होता तो व्यक्ति न होता । डॉ. सम्पूर्णानन्द ने विभिन्न लोगों के समूह को समाज कहा है -- 'समम् अजन्तिजनाः अस्मिन इति।'[3] एडम स्मिथ के अनुसार -- 'मानव समाज के पारम्परिक सम्बंधों में बचत के कृत्रिम उपाय का नाम समाज है ।'[4] समाज व्यक्तियों का समूह ही नहीं है, वरन् समूह में रहने वाले व्यक्तियों के आपसी सम्बंधों का संगठित रूप है । इस प्रकार व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बंध है । इसी समाज के सामाजिक परिवेश के क्षीरधि से साहित्यकार नवनीत ग्रहण कर स्वानुभूति के ताप में तपाकर वाणी के रूप में सुधा-वर्षण करता है । परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज लाभान्वित होता है । काडवेल के अनुसार - 'कला मोती के उस दाने के समान है जो समाज रूपी सीपी से उत्पन्न होता है ।'[5] किसी भी समाज के साहित्यकार पर उस समाज का प्रभाव पड़ता है इसीलिए साहित्यकार तद्नुरूप विचारों की अभिव्यक्ति करता है । अपने साहित्य द्वारा वह समाज के व्यापक रूप का चित्रण करता है। जीवन की दुर्बलताओं को समझकर उससे संघर्ष करने की प्रेरणा, गहरी संवेदना,

अन्तर्दृष्टि एवं व्यापक अनुभूति सभी साहित्य में प्रतिबिम्बित होते हैं । साहित्य जीवन की अनुकृति मात्र नहीं है उससे गति और दिशा प्राप्त होती है ।

साहित्य हमारे सम्पूर्ण जीवन का मूल्यांकन और व्याख्या करता है । एक श्रेष्ठ कलाकार में अनुभूति की गहराई और व्यापकता होती है । महान कलाकार अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधि, सम्पूर्ण व्याख्याता होता है । उसकी वाणी में युग के सारे संघर्ष, सारे राग-विराग, समस्त प्रश्न और संदेह मूर्तिमान होकर बोलते या ध्वनित होते हैं।[6] प्रत्येक समाज में परिवर्तन होते रहते हैं । तद्नुरूप सम्पूर्ण परिस्थितियाँ परिवर्तित होती हैं । साहित्य का परिवर्तन भी तद्नुरूप होता है । 'साहित्य जीवन का चित्रण है । जीवन बदलता है । साहित्य का रूप भी बदलता है । प्रगतिशील साहित्य समाज से साहित्य को जोड़के देखता है अलग नहीं ।'[7] समाज में विभिन्न प्रकृति के लोग होते हैं। एक श्रेष्ठ साहित्यकार सबसे प्रेरणा ग्रहण करता है । इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट है कि साहित्य और समाज दोनों का घनिष्ठ सम्बंध है । साहित्य का प्रणेता साहित्यकार सामाजिक प्राणी है । समाज की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप उत्थान-पतन आदि सबका उस पर प्रभाव पड़ता है । तद्नुरूप उसका मस्तिष्क विचार करता है और उसके द्वारा निर्मित साहित्य पर भी समाज का प्रभाव पड़ता है ।

सियारामशरण गुप्त द्विवेदी युग के कवि हैं । द्विवेदी-युगीन साहित्य पर सामाजिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ा । तत्कालीन समाज में विभिन्न प्रकार के नियम संचालित थे । प्रत्येक गाँव स्वयं की सीमाओं में निबद्ध था । ग्राम पंचायत, शासकीय एवं आर्थिक व्यवस्था में संलग्न थी । व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म पर आधारित थी। 'समाज चार वर्णों में ही नहीं वरन् असंख्य उप-जातियों में विभक्त था । शादी-विवाह, खान-पान, व्यवसाय सभी विभिन्न वर्गों एवं जातियों में विभिन्न प्रकार से

संपादित किये जाते थे। संयुक्त परिवार मूलभूत संस्था थी । विघटित परिवार अस्तित्व में नहीं थे । संयुक्त परिवार उप-जाति का निर्माण करते थे । प्रत्येक हिन्दू का इस सीमा के बाहर किसी समाज या समूह को अंगीकार करने का अधिकार नहीं था ।'[8] समाज में जाति-व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार जैसी संस्थाएँ थीं । ये दोनों संस्थाएँ धर्म-निरपेक्ष एवं न्याय विभाग से संचालित न होकर धर्म-सम्मत हिन्दू-रीति-रिवाजों से प्रवाहमान होती रहीं । फलस्वरूप हिन्दू समाज समयानुसार परिवर्तन-क्रम का साथ न दे सका । हिन्दू-समाज अनेक विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त होकर भी अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने में समर्थ रहा। उसकी कुरूपताएँ एवं विकृतियाँ बनी रहीं । इन विकृतियों के बावजूद हिन्दू-समाज की रक्षा होती रही । आगे चलकर इन कुरूपताओं का विरोध हुआ क्योंकि समाज में रूढ़ि-परम्परा, रीति-रिवाज की अनेक बुराइयाँ फैल गयी थीं । आर्य समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने समाज में व्याप्त बुराइयों को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया और समाज की विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया । ऐसे ही समाज में महात्मा गाँधी का आविर्भाव हुआ । उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में सुधार के प्रयास किए । अछूतोद्धार-आन्दोलन के द्वारा गाँधी जी ने सामाजिक रूप से दलित एवं निर्बलों को सहारा दिया । शूद्रों एवं अछूतों को हरिजन की संज्ञा दी । सत्य-अहिंसा के शस्त्रों से गाँधी जी ने सामाजिक कुरीतियों को छिन्न-भिन्न कर दिया । तत्कालीन साहित्यकार भी अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक बुराइयों की जड़े खोदने में लगे हुए थे । सभी गाँधी जी के सिद्धांतों से प्रभावित होकर समाज का मूल्यांकन करने लगे थे । प्राचीन भारत की गौरवमयी गाथाओं को साहित्य का विषय बनाकर सामाजिक जन-जीवन को प्रेरित कर रहे थे ।

कवि सियारामशरण गुप्त मानवता के उपासक थे । उन्होंने अपने काव्य में

विभिन्न सामाजिक विद्रुपताओं का यथार्थ चित्रण कर उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। जब-जब राष्ट्र पर संकट के बादल घिरे तब-तब वे जन-मानस में नव-चेतना, प्रेरक ऊर्जा और संकट से पार ले जाने की शक्ति के अनुप्रेरक रूप में सामने आये हैं । अपने काव्य में जाति, परिवार, समाज, देश तथा संस्कृति की रक्षा के साथ मानव-मूल्यों का संरक्षण भी किया । उन्होंने व्यक्ति और समाज का अभिन्न सम्बंध माना है :

देखकर यह समुदाय, समाज
जान पड़ता है मुझको आज
सभी से है, मेरी पहचान
सभी से है सम्बंध महान
विगत जन्मों में भी बहु बार
मिले हैं हम सब इसी प्रकार ।[9]

अपने काव्य में अतीत का भव्य चित्रांकन कर जनमानस में स्वाभिमान जगाया । अपनी संस्कृति के प्रति आस्था-भाव विकसित किया तथा सामाजिक मूल्यों के रूप में शाश्वत मानव-मूल्यों का प्रतिपादन किया । जिनमें प्रमुख हैं -- पारिवारिक मूल्य, नैतिक मूल्य एवं सांस्कृतिक मूल्य ।

5. क पारिवारिक मूल्य :

परिवार संपूर्ण मानव समाज की आधारशिला है । परिवार समाज की इकाई है। परिवार की छत्रछाया में ही मानव का जीवन सर्वप्रथम संरक्षित होता है । यहीं उसका पालन-पोषण एवं संवर्धन होता है । यहीं से उसे जीवन की एक दिशा मिलती है । अतः परिवार समाज की सभी संस्थाओं में सर्वाधिक सार्वभौम संस्था के रूप में विद्यमान है । मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही परिवार की रचना हुई । बरजेस एवं लॉक के अनुसार --

''परिवार एक ऐसा समूह है जो विवाह, रक्त अथवा दत्तक सम्बंधों द्वारा संगठित होता है।''[10] परिवार के मध्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय शक्तियों का सम्मिलन होता है, जिससे मनुष्य को जीवन प्रारम्भ करने में सहायता मिलती है । पारिवारिक व्यवस्था के द्वारा मनुष्य में विभिन्न गुण प्रस्फुटित होते हैं। परिवार के अभाव में आधुनिक सभ्य समाज की संरचना ही नहीं हो पाती । इसलिए पारिवारिक व्यवस्था श्लाघनीय है । एक आदर्श परिवार की स्थापना करना मानव-जीवन का विशिष्ट मूल्य है ।

विवाह और परिवार -- परिवार का निर्माण पुरुष एवं स्त्री के सम्मिलन से संभव है और यह सम्मिलन विवाह के माध्यम से सुलभ है । डॉ. वेस्टर मार्क के अनुसार -- ''विवाह स्त्री और पुरुष का ऐसा सम्मिलन है, जिसे किसी संस्कार द्वारा सम्पन्न करके स्वीकृति दी जाती है।''[11] सियारामशरण गुप्त ने भी विवाह को एक सामाजिक बंधन तथा संस्कार के रूप में स्वीकार किया है । गृह के बुजुर्गों को अपनी कन्या का विवाह योग्य एवं उत्तम वर से ही कराना चाहिए । पुत्री के विवाह के लिए पिता की चित्तावस्था का वर्णन दृष्टव्य है :

दो जगह के भूप कृष्णा के लिए
कर रहे इच्छा प्रकट सविशेष हैं ।
क्या करूँ अब, कुछ समझ पड़ता नहीं
धूर्त, बेईमान ये निज स्वार्थ के
सामने कुछ भी नहीं हैं देखते
चित्त मेरा हो रहा अति व्यग्र है ।[12]

स्त्री और पुरुष परिवार रूपी रथ के दो पहिए हैं । इन दोनों के सहयोग से सृष्टि निर्मित हुई । अतः दोनों को योग्य तथा गुणी होना चाहिए । इसी से पारिवारिक जीवन सुखी हो सकता है :

हैं वही वर योग्य कृष्णा के लिए ।

वे प्रतापी हैं, गुणी हैं, वीर हैं ।

साथ ही वे शक्तिशाली हैं बड़े ।

है मुझे विश्वास इस सम्बंध से

आपको होगी अवश्य प्रसन्नता ।[13]

गुप्त जी ने विवाह को बहुत पवित्र माना है । इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती । इसमें समर्पण की भावना आवश्यक है । माता-पिता भी योग्य वर को कन्यादान कर तुष्ट होते हैं :

हुआ दूर के सुन्दर वर को

जिस दिन अमला का वाग्दान ।

पुण्य योग में माना सबने

तुष्ट इसे भी स्वजन समान ।[14]

कन्या का पिता वर को अपने यहाँ बुलाकर शक्ति से अलंकृत की हुई कन्या को वर को सौंप देता है । कन्या सबको उदास छोड़कर अपने गृह चली जाती है :

हमें रूलाती चली जायेगी

तेरी दिदिया अपने गेह

सूने घर में भूल जायगी

हँसी-सुखी यह है जितनी ।[15]

एथेना का पिता सिल्यूकस स्वयं चन्द्रगुप्त के पास जाकर अपनी पुत्री का हाथ उसे समर्पित करता है :

शत्रुता चन्द्रगुप्त ने क्या दिखलाई ?

की है उस पर स्वयं हमीं ने प्रथम चढ़ाई ।
है वह वीर-वरिष्ठ और गुणशाली अनुपम
तो फिर उससे क्यों न सुता का ब्याह करें हम ?
एथेना भी है चाहती
उसे चित्त से सर्वथा ।[16]

इस प्रकार गुप्त जी को भारतीय विवाह-पद्धति मान्य है जिसमें स्त्री-पुरुष सुख-दुःख में सम भागी होकर जन्म-जन्मान्तर तक अपना सम्बंध मानते हुए विवाह के प्रमुख आदर्शों से अनुप्राणित रहते हैं ।

पारिवारिक सम्बंध : परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है, उसका पालन-पोषण होता है तथा माता-पिता, भाई-बहन आदि से समुचित सहयोग प्राप्त करता है । बड़े होने पर वह गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है । पत्नी एवं सन्तान से सम्बंधित होता है । इन सम्पूर्ण पारिवारिक सम्बंधों में उचित तारतम्य का होना जीवन के उच्चादर्शों की प्राप्ति हेतु अत्यंत आवश्यक होता है । जलती हुई लकड़ी अलग-अलग होने पर धुआँ देती है और एक साथ होने पर जल उठती है । इसी प्रकार कुटुम्ब के लोग अलग-अलग होकर दुःख प्राप्त करते हैं परन्तु एक साथ होने पर सुखी होते हैं । सियारामशरण गुप्त ने इन्हीं पारिवारिक सम्बंधों के सुष्ठु रूप को अभिव्यक्त किया है :

जन्मदात्री की, माँ की, गोद ;
पिता का प्रेम-प्रपूर्ण प्रमोद ;
बहिन का शुचि स्निग्ध वर्ताव ;
बड़ों की वत्सलता का भाव ;
अन्य स्वजनों का प्यार दुलार
पा चुका मैं फिर-फिर बहु बार ![17]

माता-पिता के प्रति श्रद्धा : परिवार में माता-पिता का सर्व प्रधान अस्तित्व होता है । एतदर्थ माता-पिता के प्रति श्रद्धा की भावना का होना आवश्यक है । ''प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति पर माता-पिता का बड़ा भारी ऋण रहता है, जिसको चुकाना उसका परम कर्त्तव्य हो जाता है।[18] बेटियाँ अपनी माँ के दुःख से दुःखी होती हैं तथा अपनी माँ की प्रतिष्ठा बचाने के लिए वे अपने प्राण भी दे सकती हैं :

माँ क्यों आज दिन भर रोती रहीं,
आँसुओं से अँचल भिगोती रहीं ?
X X X
एक दाना तक मुहँ में नहीं दिया,
एक घूँट पानी भी नहीं पिया ।
मैंने कहा मैं भी नहीं खाऊँगी ;
मैं भी आज भूखी रह जाऊँगी ।[19]

सिल्यूकस के युद्धभूमि में जाने के बाद एथेना भी बेचैन हो जाती है :

गये आज हैं पिता भयंकर समरस्थल में,
इसीलिए है व्यग्र चित्त मेरा पल पल में ।[20]

पुत्र भी माँ की व्यथा जान चिंतामग्न हो जाता है :

जाग-सी उठी है हूक,
छाती हुई जाती यह टूक-टूक,
सोचकर माँ की व्यथा, चिन्ता, वेदना अपार ।[21]

सन्तान प्रेम - सन्तान का समुचित मार्ग-दर्शन माता-पिता का कर्त्तव्य है । पिता पाँच वर्ष तक सन्तान को प्यार करे, दस वर्ष तक ताड़न करे और सोलह वर्ष की अवस्था होने पर उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करे ।[22] इस प्रकार का व्यवहार सन्तान के हितार्थ अत्यन्त

आवश्यक है । माता-पिता द्वारा समुचित हित चिंतन सन्तति के सफल जीवन के लिए अति लाभकर है । 'उन्मुक्त' में मृदुला अपने पुत्र ज्ञानधर को कुसंगति से बचने की सलाह देती है और मार-पीट न करने को कहती है :

निन्दनीय यह है
आपस की मारपीट
ऐसे लड़कों का साथ, दूर रह ऐसे लड़कों से ।[23]

चित्तौड़ की महारानी वंश रक्षा हेतु कर्त्तव्य भावना का पाठ पढ़ाती हुई अपने एक मात्र पुत्र को युद्ध-भूमि में जाने का आदेश देती है :

हे सुत ! तेरी वृद्धा माता यही चाहती है सविशेष
तेरे रहते हुए न खो दे मातृभूमि निज कीर्ति अशेष ।[24]

सन्तान माता-पिता पर आश्रित होती है । माता-पिता भी अपनी खुशियों की चाह न करते हुए सन्तान की ही खुशियों के बारे में ही सोचते हैं । निर्धन माता-पिता स्वयं भूखे रहकर भी सन्तान के भोजन की व्यवस्था करने को चिंतित रहते हैं । मोहन और यमुना भी कल से भूखे हैं, परन्तु उन्हें अपनी सन्तान की ही चिन्ता है :

ये दोनों भी दग्ध हैं जठरानल से
अब तक खाया नहीं एक भी दाना कल से ।
किन्तु नहीं है इसीलिए ही चिन्ताकुल वे
लड़कों के ही लिए अधिकतर हैं व्याकुल वे ।[25]

इस प्रकार माता-पिता का प्रेम सन्तान का मार्ग-दर्शन करता है संतति भी उचित मार्ग-दर्शन पाकर विकास पथ पर अग्रसर होती है । माता-पिता के स्नेह में असीम बल होता है, जिससे कार्य करने की विशेष प्रेरणा प्राप्त होती है ।

भ्रातृ-भगिनी प्रेम : भ्रातृ-भगिनी का प्रेम परिवार को आदर्शोन्मुख करता है । भाई का भाई के लिए तथा भाई का भगिनी के लिए अटूट प्रेम होता है । बड़ा भाई अपने से छोटों के हित के लिए सदैव तत्पर रहता है । असाध्य रोग से जूझते हुए भी मुरलीधर को अपनी चिंता नहीं है वह माँ से कहता है तू मेरी चिंता न कर पहले भाई को तो कुछ खिला :

भैया को तो खिला अरी माँ, चाहे जैसे
सह सकते हैं भूख फूल-से बच्चे ऐसे ?
मुझे मिलेगी परम शान्ति, चिन्ता तज मेरी ;
दे खाने को इसे, न कर अब कुछ भी देरी ।[26]

एक बहन अपनी दूसरी बहन को स्नेहपूर्ण शुभकामनाएँ प्रदान करती है :

हृदय धन का हृदय हरषाती हुई,
दीप्तिमय नव-दीप्ति बरसाती हुई ।
चाहती हूँ, तू सुखी हो हे बहन ।[27]

माँ के न रहने पर बड़ी बहन ही छोटों का सहारा बनती है । वह मातृसम स्नेह छोटों को प्रदान करती है :

जीजी जकड़े ही रही उसको
छाती से लगा के पकड़े ही रही उसको ।
बस वह रोती ही रही वहाँ,
जान भी सकी न यह -माँ चली गई कहाँ ।[28]

'नकुल' खण्डकाव्य में युधिष्ठिर अपने स्नेह द्वारा ही भाइयों को पुनः जीवित कर अज्ञातवास की ओर चल देते हैं । इस प्रकार भातृ-भगिनी प्रेम के द्वारा पारिवारिक मूल्यों में वृद्धि होती है ।

नारी का आदर्श : भारतीय समाज में नारी को उच्च स्थान प्राप्त है । इस देश में गार्गी, मैत्रेयी, घोषा जैसी नारियाँ हुई हैं । जिन्होंने समाज में नारी आदर्श प्रस्तुत किया है। अतः 'मनुस्मृति' में कहा गया है -- यत्र नार्यस्तु पुज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः अर्थात जहाँ नारियों की पूजा की जाती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।[29] पत्नी पति का अर्द्धांश है । उसके बिना पति चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर सकता है । समय-समय पर समाज में नारियों का विभिन्न प्रकारेण महत्त्व रहा है । वैदिककालीन विदुषी नारियाँ मध्यकाल में पर्दा-प्रथा के प्रभाववश दीन व हीन मानी जाने लगीं। उन्हें 'डूब मरनी', 'मरजानी' आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाने लगा । लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही । आर्य समाज ने उन्हें अर्द्धांगिनी का पद दिलवाकर पर्दा-प्रथा के गर्त से बाहर निकालकर और शिक्षित बनाकर सीता और सावित्री का आदर्श उनके सम्मुख रखा।[30] महात्मा गाँधी ने भी स्त्रियों को अपना सम्पूर्ण समय घरेलू कार्यों में लगाने से मना किया । उन्होंने स्त्री-समाज को बन्धन मुक्त होने की प्रेरणा दी ।[31] धीरे-धीरे नारी को आदर्श के रूप में जाना जाने लगा । आधुनिक नारियों को स्व विकास हेतु अनेक अवसर प्राप्त हुए। सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में नारियों को उच्चादर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया है क्योंकि नारी परिवार की महत्त्वपूर्ण इकाई है ।

राष्ट्र एवं समाज सेवी नारी : सियारामशरण गुप्त ने नारी को राष्ट्र एवं समाज सेवी रूप में अनेक स्थलों पर दिग्दर्शित किया है । चित्तौड़ की महारानी अपने पुत्र को देश-सेवा की आज्ञा देती हैं साथ ही अपनी पुत्री तथा पुत्रवधु के साथ युद्धस्थल में भी जाती हैं :

इसी समय कुछ वीर नारियाँ धारण कर कठोर रण वर्म्भ,
दुर्ग स्थित हों लगी बेधने रिपुओं की सेना के मर्म ।
करती थीं जो रण-कौशल से अरिगण का सब गर्व विमुक्त

थी उनमें प्रताप की माता, वधू और पुत्री संयुक्त ।[32]

'उन्मुक्त' काव्य में मृदुला दृढ़ निश्चय करती है कि प्राण भले ही चले जायें, किन्तु कुसुम-द्वीप को शत्रु के हाथ न जाने देंगे :

हमारा यह प्रण, -
पावन कुसुम द्वीप, यह है हमारा ही ।
यह है हमारा, हाँ हमारा, हाँ हमारा ही ।
प्राण रहते हों रहें, जाये यदि जातें हों
तो भी कभी जाने नहीं देंगे किसी बैरी के
हाथों में कदापि इसे । इसके निमित्त ही
तन-मन और धन अर्पित हमारे हैं ।[33]

'आर्द्रा' काव्य की 'अग्नि-परीक्षा' कविता में सुभद्रा नामक स्त्री सामाजिक विद्रुपताओं को दूर करने हेतु अपने प्राणों तक की आहुति दे देती है :

तुल्य निज नेत्र नत करके
बोली यह वाणी में ज्वलन्त रोष भर के --
अच्छी बात वैसी ही परीक्षा अभी दूँगी मैं
तो भी यह इतना कहूँगी मैं ।[34]

'कृष्णा' गीतिकाव्य की कृष्णा के अंदर भी राष्ट्र भक्ति कूट-कूटकर भरी हुई है। उसे यह कदापि स्वीकार्य नहीं कि उससे विवाह करने हेतु शत्रु सेना उसके पिता से युद्ध करे । वह अपने प्राण दे देगी परन्तु अपने राज्य को दुश्मन के हाथों नहीं जाने देगी यह सोचकर वह सहर्ष विषपान कर लेती है :

आज मैं अपने हृदय के रक्त से
वदन धोऊँगी सहर्ष स्वदेश का

और मैं उस स्वप्न के आदेश को

पूर्ण करके धन्य होऊँगी अभी ।[35]

स्वदेश हित प्राणों की आहुति देने वाली कृष्णा को धन्य मानते हुए महामंत्री दौलत सिंह कहते हैं कि -- 'कृष्णा मरी नहीं है वह देश-हित बलिदान देकर अमर हो गई है:

धन्य हम भी हो गए हैं देख के

देश के हित दिव्य आत्मोत्सर्ग यह ।

शोक यह यद्यपि न जावेगा कभी,

पर कभी दुखाश्रु हम न बहावेंगे

यह सुगौरव की कथा हम जन्म-भर

गायेंगे, हाँ गर्वपूर्वक गायेंगे ।[36]

प्रबुद्ध एवं संयत नारी : नारी का स्वरूप समयानुसार विभिन्न प्रकार का रहा है । इसलिए समय-समय पर नारी के विषय में भिन्न-भिन्न भावनाएँ अभिव्यक्त की जाती रही हैं । कभी नारी को दबाया गया तो कभी उठाया गया, फिर भी नारी में स्वयं को विकसित करने की भावना सर्वदा विद्यमान रही है । सियारामशरण गुप्त ने नारी के प्रबुद्ध एवं संयत रूप को विशेष महत्व दिया है । 'मौर्य विजय' में एथेना को एक प्रबुद्ध नारी-पात्र के रूप में उजागर किया है । उसके पिता चन्द्रगुप्त से युद्ध करने गए हैं लेकिन वह यह सोचकर दुःखी है कि इस युद्ध में न जाने कितना रक्त बहेगा । वह निश्चय करती है कि वह अपने पिता को इस युद्ध से विरत करेगी :

रणक्षेत्र से लौट आयेंगे पिता आज जब,

विरत युद्ध से करूँगी निश्चित तब ।

बेटी का अनुरोध नहीं क्या वे मानेंगे ?

रक्त-पात ही वीर-धर्म अपना जानेंगे ।[37]

'लाभालाभ' कविता में श्रेष्ठी दम्पत्ति व्यवसाय करते हुए अपना जीवन-यापन करते हैं । व्यवसाय में हानि होने पर श्रेष्ठी उदास हो जाता है लेकिन उसकी पत्नी संयत होकर कहती है व्यापार में लाभ-हानि तो होती ही रहती है :

नहीं स्वामी, अनुचित यह ग्लानि ;

एक गृह से अपनी क्या हानि ?

करोड़ों का अपना व्यवसाय ;

हानि के भीतर ही आय ।[38]

'नकुल' काव्य में पांचाली को एक संयत और प्रबुद्ध नारी के रूप में दर्शाया गया है । वह वन में अनेक कष्ट सहती हुई भी प्रसन्न है । इसे विलोककर युधिष्ठिर सोचते हैं, वास्तव में ये नारियाँ धन्य हैं जो भयानक अंधकार युक्त जंगलों में भी ज्योति जलाती हैं:

समझ रहा हूँ अहा ! भीम-भावन वसुन्धरा ;

काल-चक्र में चला रही है यह परम्परा ;

दुःख-दावानल मध्य सती-सीताएँ आतीं,

भव-कानन में देर-दूर तक ज्योति जगाती ।[39]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त द्वारा चित्रित नारियाँ प्रबुद्ध एवं संयत हैं । ऐसी नारियों से घर तथा परिवार का तो उत्थान होता ही है समाज भी उच्च प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है । उत्तम चरित्रवाली नारियों में त्याग, दुःख-सुख के समभाव आदि गुण होते हैं । इन्हीं मूल्यों का वरण करती हुई नारी परिवार की देख-भाल करती है तथा सम्पूर्ण परिवार को अनुशासित करती हुई एकसूत्र में बाँधकर रखती है । भारतीय परंपरा में नारी का यह एक महत्त्वपूर्ण पारिवारिक मूल्य रहा है कि वह किसी भी बात पर घर के सदस्यों में कलह

का बीजवपन न होने दे । इसके विपरीत वह उन्हें संगठित करके एक ही सूत्र में पिरोने की कोशिश करे । घर के पुरुष भी पारिवारिक एकता को बनाये रखें, क्योंकि सम्पूर्ण घर उन पर अवलम्बित रहता है । पारिवारिक सम्बंध उच्च मूल्यों पर प्रतिष्ठित हो, उनमें प्रेम, त्याग और ममता का समुचित समन्वय हो, तो वह एक आदर्श परिवार बनकर सामाजिक मूल्यों की वृद्धि करता है । अतः सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में सामाजिक-मूल्य के अन्तर्गत् आदर्श परिवार का चित्रण किया है क्योंकि पारिवारिक मूल्यों की वृद्धि होने पर ही समाज सुव्यवस्थित होता है ।

5. ख नैतिक मूल्य :

मानव के लिए जीवन में आनन्द प्राप्ति का सुगम, सफल एवं व्यावहारिक साधन नीति है । नीति शब्द 'नी' धातु से निष्पन्न हुआ, जिसका अर्थ है-- ले जाना ।[40] दूसरे शब्दों में मानव को चरमोत्कर्ष के शिखर पर ले जाना अथवा लोक-परलोक की सिद्धि करवाना ही नीति का कार्य है । नीति का अनुसरण करके मानव सत्कार्य सम्पादन करता है । नीति के आधार पर ही जीवन के अनेक मानदण्ड निर्धारित होते हैं । मनुष्य के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की विवेचना इसके द्वारा ही सम्भव है । उचित व्यवहार (कर्त्तव्य) का नाम नीति है ।'[41] मानव-जीवन के आदर्शों की विवेचना इसी के अन्तर्गत् होती है। इस प्रकार नीति औचित्य-समर्थक है । समाज में रहकर कुछ कार्यों का समुचित रूपेण पालन अत्यावश्यक हो जाता है । समाज में अहितकर कार्यों का सम्पादन सर्वथा त्याज्य होना चाहिए । मानव-समाज की उत्पत्ति से ही इस प्रकार के नैतिक आदर्श निर्मित होते रहे हैं । इसी आधार पर नीतिशास्त्र की मान्यताएँ निर्धारित की गयीं । व्यष्टिगत नैतिक मूल्य ही अपने विस्तार में सामाजिक मूल्य बनते हैं ।

किसी युग की चेतना तद्युगीन नीति से प्रभावित होती रही है । समाज के

परिवेशानुसार सभी मान्यताएँ स्वयमेव बनती एवं बिगड़ती रही हैं । 'भारतीय नीतिशास्त्र की प्रकृति दार्शनिक है ।'[42] इसीलिए भारतीय नैतिक मान्यताओं का समाज में अपना विशेष स्थान है । इन्हीं मान्यताओं पर समाज का उत्थान एवं पतन आधारित होता है । नैतिक भावनाएँ दिशा-वाहिनी, प्रेरणा-दायिनी एवं लक्ष्य-सम्पादिका होती हैं । मानव चेतना जब नीति से प्रभावित होती है तब समाज का रूप परिष्कृत होता है । इसके अभाव में समाज में अनेक प्रकार के दुर्गुण परिलक्षित होने लगते हैं । इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि किसी युग की संचेतना नैतिक आदर्शों से आप्लावित हो । ''नीतिमय आचरण, नीतिपूर्ण जीवन और नैतिक व्यवहार से संसार का पोषण और जनसमाज का रक्षण होता है ।''[43] इस प्रकार नीति और नैतिकता का मानव-चेतना के साथ घनिष्ठ सम्बंध है ।

सियारामशरण गुप्त सच्चे अर्थों में मानवीय कवि हैं । उनका अन्तःकरण भारतीय संस्कृति समन्वित नैतिक आदर्शों से ओत-प्रोत है । युगानुरूप परिस्थितियों को देखकर वे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके । उन्होंने तद्‌युगीन रूढ़ियों का जमकर विरोध किया । पतनशील मानव-मूल्यों को देखकर उनकी चेतना इनके परिष्कार हेतु सन्निद्ध हुई । उन्होंने अपने काव्य के अनेक पात्रों द्वारा नैतिक आदर्शों का समर्थन कराया । गुप्त जी की नैतिक संचेतना प्रकाश-स्तम्भ की भाँति सम्पूर्ण समाज के मार्ग-दर्शन में सहायक है।

शिष्टाचार : सज्जन पुरुषों द्वारा दोष-रहित व्यवहार ही शिष्टाचार है । शिष्टाचार-परिपालन द्वारा समाज-हित सम्भव है । सियारामशरण गुप्त के काव्य में बड़ों का छोटों के प्रति, छोटों का बड़ों के प्रति सम्मान यत्र-तत्र परिलक्षित है । वे स्वयं महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गणेश शंकर विद्यार्थी तथा विनोवा भावे से प्रेरित थे । उनके सम्मान में कई कविताएँ समर्पित कीं । बापू के जेल से छूटकर आने पर सब उनके सम्मान में पंक्तिबद्ध खड़े हो जाते हैं :

सुप्त नगरी के प्रान्त भाग में

उत्सुक अड़ी थी बड़ी जनता

सारी रात निद्रा के विराग में

जागृत किए थी अनुराग की गहनता

X X X

कुटिल-कठोर बहु मार्ग पार करके

श्रद्धा का पुनीत घट भरके

बाट जोहती थी खड़ी बालाएँ

पुरुष लिए थे प्रेम-फुल्ल पुष्प-मालाएँ ।[44]

शत्रु के प्रति भी सम्मान की भावना होनी चाहिए । यही भावना चन्द्रगुप्त के हृदय में सिल्यूकस के प्रति है :

तेजस्वी हैं आप, वीर भी हैं निश्चय ही

करते हैं हम मुक्त आपको इसी समय ही ।

भारतवासी होते नहीं

औरों - जैसे क्रूर हैं,

सम्मान पराजित शत्रु का

करते समाज को भरपूर हैं ।[45]

गणेश शंकर विद्यार्थी भी शिष्टाचार का पाठ पढ़ाते हुए कहते हैं कि जो हाथ एक-दूसरे को आदर के साथ गले लगाते हैं, उन हाथों से दूसरों की हानि करने वाले पत्थर नहीं उठाने चाहिए ।[46]

कृतज्ञता : अकेला व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं को स्वयमेव परिपूर्ण नहीं कर सकता । उसे समाज के विभिन्न लोगों का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है । इसीलिए समाज का

निर्माण हुआ है। किए हुए उपकारों को न भूलने वाला व्यक्ति ही कृतज्ञ कहलाता है । ऐसे व्यक्ति जो उपकारों को नहीं मानते कृतघ्न कहलाते हैं । कृतज्ञता के द्वारा सत्कार्य-प्रवृत्ति की भावना बलवती होती है । कृतज्ञता न मानने वाला व्यक्ति विश्वासघाती होता है । गुप्त जी 'कृतघ्न' कविता द्वारा कृतघ्नी न बनने को कहते हैं :

इन विटपवरों ने हे मरूत् । मोदकारी,
सुरभि सतत दे के की सु-सेवा तुम्हारी ।
व्यथित अब इन्हीं को बह्नि से आज देख
ज्वलित कर रहे हो और भी क्यों विशेष ।[47]

तुलसीदास ने ज्ञान की जो गंगा बहाई, उसे देख कवि कृतज्ञता से नतमस्तक हो जाता है :

तुम परिवार-भुक्त हो मानो
संरव्यातीत जनों के,
तुमने कलि-कल्मष काटे हैं
अगणित मलिन मनों के ।[48]

'समीर के प्रति' कविता में कवि वायु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहता है-- हे समीर ! तुम जब से पैदा हुए हो तभी से भ्रमणरत हो । तुम्हारे अनगिनत उपकार पशु-पक्षी, पेड़-पौधों तथा मानव पर हैं ।[49] 'उन्मुक्त' में मृदुला एक वृद्धा माँ के प्रति कृतज्ञ है, जिसने कुसमय में भिक्षा द्वारा प्राप्त राशि को राष्ट्रहित दान में दिया था :

धन यह पाकर बताऊँ तुम्हें माता क्या
प्राप्त क़िया मैंने कितना क्या ? इस निधि से
ऊँची निधि मैंने किसी मानी किसी दानी से

आज तक पाई नहीं । जानती नहीं हूँ मैं

धन्यवाद कैसे दूँ ।[50]

इस प्रकार अनेक कविताओं के पात्रों द्वारा कवि ने कृतज्ञता-ज्ञापन से प्रेमादर्श की स्थापना की है । कृतज्ञता की भावना नैतिक-मूल्यों को सबल बनाती है । सामाजिक, आध्यात्मिक एवं वैयक्तिक सभी दृष्टिकोणों से कृतज्ञता-ज्ञापन श्रेयस्कर है ।

उत्साह : उत्साह मानव-विकास में सहायक होता है। उत्साह-विहीन व्यक्ति अपने कर्मों में कभी सफल नहीं होता । लक्ष्य-सिद्धि उत्साह का अन्तिम सोपान है । इसलिए उत्साह-युक्त कर्म प्रवृत्तता सर्वप्रकारेण सुखकर है । सियारामशरण गुप्त रोग से पीड़ित थे, लेकिन उनमें अदम्य उत्साह था । यही कारण है कि रोग भी उनकी साहित्य-साधना में बाधा न बन सका। उनके पात्र जब विभिन्न झंझावातों से प्रताड़ित होकर पतन की स्थिति में पहुँचने लगते हैं । तब वे उन्हें उत्साह दिलाकर विकास-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करते हैं । चन्द्रगुप्त अपनी सेना का उत्साह वर्द्धन करते हुए कहता है :

हैं समर्थ हम आज तुम्हारा ही बल पाकर,

शूरों । भारत-साम्राज्य की

लाज तुम्हारे हाथ है

है तुम्हें धर्म का ध्यान तो

विजय सर्वदा साथ है ।[51]

ग्रीक सैनिक भारतीय सेना के आगे न टिक सके । वे युद्धभूमि से पलायन करना चाहते थे, तभी सिल्युकस उनका उत्साह वर्द्धन करते हुए कहता है :

अभी समय है, अभी काम कुछ कर दिखलाओ

भारत-भर में विजय-कीर्ति अपनी फैलाओ ।

विश्व-विदित तुम वही वीरवर हो यूनानी

दीख पड़ा है नहीं कहीं भी जिनका सानी ।[52]

कानपुर के साम्प्रदायिक दंगों में कितने ही निर्दोष मारे गए थे । गणेश शंकर विद्यार्थी हिन्दू-मुस्लिम दोनों का उत्साह बढ़ाते हुए दुष्कर्म न कर सत्कर्म करने को प्रेरित करते हैं ।[53] 'उन्मुक्त' में लौहद्वीप द्वारा जब कुसुमद्वीप पर आक्रमण किया जाता है तब कुसुमद्वीप निवासी स्वयं उत्साहित होकर सेना का उत्साह बढ़ाते है ।[54] प्रताप तथा उसकी सेना का उत्साह बढ़ाने के लिए नारियाँ भी युद्ध-भूमि में उतर जाती हैं, जिसे देख मुगल सेना घबरा जाती है ।[55]

संतोष : जीवन में उत्थान-पतन लगा ही रहता है । पतनावस्था में अडिग रूप से संतोष-भाव ग्रहण करना अति श्रेयस्कर है । लोभी व्यक्ति कभी सुख प्राप्त नहीं करता क्योंकि तृष्णाएँ अनन्त होती हैं । संतोष में ही परम सुख की प्राप्ति है -- 'संतोषः परमं सुखम्।'[56] सियारामशरण गुप्त परम संतोषी व्यक्ति थे । उन्हें जीवन में अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा परन्तु प्रत्येक स्थिति में वे संतोषी बने रहे । उन्होंने अनेक पात्रों द्वारा संतोष भाव की अभिव्यंजना करायी है । महात्मा गाँधी से लेकर विनोवा भावे तक सभी परम संतोषी हैं । मोहन धन-धान्य की कामना नहीं करता । वह तो पेट भरने को अन्न मिल जाये इसी में संतोष करना चाहता है:

नहीं चाहिए द्रव्य हमें या ऊँचे घर ही,

दो हमको भगवान ! अन्न बस मुट्ठी भर ही ।[57]

'एक फूल की चाह' कविता कवि की संतोष-वृत्ति का द्योतक है, जहाँ एक अबोध बालिका मरणासन्न स्थिति में भी उत्तम खाद्यादि की चाहना न करते हुए देवी के प्रसाद का एक फूल चाहती है :

मुझको देवी के प्रसाद का

एक फूल ही दो लाकर ।[58]

'संतोष' कविता में कवि की परम सन्तोषी-वृत्ति दृष्टिगत होती है । जब वह ईश्वर से सबके मंगल की कामना करता है :

आतप की इस दुःसहता में

है सन्तोष यही हमको -

पावस में हे घनश्याम ! तुम,

नव जीवन ले आओगे ।[59]

इस प्रकार गुप्त जी की संतोष-वृत्ति सुखानुभव कराने में पूर्ण समर्थ है ।

कर्त्तव्य-निष्ठा : कर्त्तव्य पालन द्वारा अधिकारों की प्राप्ति होती है । इसीलिए कर्त्तव्य निष्ठा सर्वसिद्धि प्रदत्तक है । मानव अपने कर्मों के अनुसार ही सुख और दुःख प्राप्त करता है । जीवन कर्म-क्षेत्र है । जो इस कर्म-क्षेत्र से मुख मोड़ता है, वह जीवन से मुख मोड़ता है । फलस्वरूप उसे वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती । गुप्त जी जीवन में कर्त्तव्य के महत्त्व को स्वीकार करते हैं । चन्द्रगुप्त का सैनिकों को उनके कर्त्तव्यों की शिक्षा देना,[60] गाँधी जी का जन-सामान्य को कर्म की ओर प्रेरित करना[61], ईसा मसीह द्वारा सामरी के लोगों को सत्कर्म की ओर प्रवृत्त करना[62], आदि कर्त्तव्य-निष्ठा के परिचायक हैं । उनके अनेक पात्र कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देते हैं तथा स्वयं कर्त्तव्य-पथानुसरण द्वारा समुचित सुख प्राप्त करते हैं ।

विघ्न-सहन-भाव : विघ्नों को हँसते हुए सह लेना नैतिक आदर्श का द्योतक है। धीर पुरुष कभी भी निश्चित की हुई बात से डिगते नहीं हैं।[63] मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ आती

हैं परन्तु उन बाधाओं को सहते हुए पथ-प्रशस्त करना ही लक्ष्य सिद्धि का परिचायक है ।

राम-सीता और लक्ष्मण ने वनवास काल में कितने ही विघ्न सहे लेकिन उन कष्टों का अनुभव कभी नहीं किया। उन विघ्नों में भी वे प्रसन्न भाव से वार्तालाप करते हैं :

आर्यपुत्र, यह विजन लता फूली है कैसी

बोले राघव - विजन बीच शोभित तुम जैसी ।[64]

द्रौपदी भी वन के कष्टों को भूलकर वहाँ आनन्द की खोज करती है ।[65] ईसु क्रूस के भार को सहन करते हुए सबके मंगल की कामना करते हैं ।[66] कवि स्वयं कभी भी विघ्न से घबराकर कर्त्तव्य-पथ को न छोड़ने की प्रेरणा देता है :

'हम विघ्न के भय से कभी कर्त्तव्य को छोड़े नहीं ।'[67]

सद्‌गुण - समर्थन : मानव अपने सद्‌गुणों द्वारा सम्मान प्राप्त करता है । ऊँचे परिवार में जन्म लेकर ही कोई महान नहीं कहला सकता । मनुष्य के सद्‌गुण ही उसे प्रशंसा प्राप्त कराते हैं ।[68] सिल्यूकस चन्द्रगुप्त के सद्‌गुणों से प्रभावित था । इसीलिए वह अपनी पुत्री एथेना का विवाह उससे कराना चाहता है :

है वह वीर-वरिष्ठ और गुणशाली अनुपम

तो फिर उससे क्यों न सुता का ब्याह करें हम ?[69]

'उन्मुक्त' काव्य में गुणधर शत्रु सेना द्वारा घायल कर दिया जाता है । तभी शत्रु सेना का एक सैनिक उसे उठाकर सुश्रुषा के लिए ले जाता है । गुणधर उसके सद्‌गुणों से प्रभावित हो उससे पूछता है :

अपरिचित हूँ मैं भाई

किनकी पहली सुभग सुहृदयता तूने पाई ।

था तेरा क्या नाम, धाम,किन में तू फूला ।[70]

कवि ने मुक्त कण्ठ से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ईसा मसीह, तुलसीदास, महात्मा गाँधी तथा उत्तम नरों के सद्‌गुणों की प्रशंसा की है । सद्‌गुण समर्थन द्वारा उत्तम कार्य-प्रवृत्ति की प्रेरणा मिलती है ।

स्पष्टवादिता : प्रारम्भ में स्पष्टवादिता भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इसका परिणाम सुस्वाद, लाभकर एवं अक्षुण्ण होता है, इसीलिए सियारामशरण गुप्त ने स्पष्टवादिता का समर्थन किया है । वे मानव को श्रेष्ठ मानते हैं लेकिन नैतिकता से हीन मानव की आलोचना स्पष्ट रूप से करते हैं :

यद्यपि हुए निर्जीव से हम, किन्तु हम निश्चिन्त हैं,
कुछ भी करेंगे हम नहीं चाहे हजारों दुःख सहें ।
हैं हम बहिष्कृत कर चुके सद्‌भाव सब हृद्धाम के
कोसों सदा हम दूर रहते हैं गुणों के नाम से ।[71]

ऐसे व्यक्ति जो सभ्यता का चोला पहन असभ्यता दिखलाते हैं कवि उन्हें पशु की संज्ञा तक देने में नहीं हिचकिचाता :

मनुज नहीं पशु हैं वे पूरे ।[72]
मनुज भेड़िये बन जाते हैं ।[73]

'अमृत पुत्र' में भी कवि मानव के नैतिक पतन को देख प्रभु से उसे सही मार्ग दिखाने की प्रार्थना करता है ।[74] मानव की मानव से लड़ाई को देख कहते हैं :

कभी बिना कारण बच्चे भी
नहीं झगड़ते हैं ऐसे ।[75]

'एक फूल की चाह' में कवि सामाजिक बुराइयों की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट रूप में छूआछूत तथा ऊँच-नीच जैसी दुर्भावनाओं का खण्डन करता है :

माँ के भक्त हुए तुम कैसे

करके यह विचार खोटा

माँ के सम्मुख ही माँ का तुम

गौरव करते हो छोटा !'[76]

इस प्रकार सियारामशण गुप्त ने अपने काव्य में नैतिक मूल्यों की स्थापना करके समाजोत्थान को नई दिशा प्रदान की है । सही अर्थो में नैतिक-मूल्य मानव के अनमोल आभूषण हैं जिन्हें धारण कर मानव सही अर्थ में मानव बनता है ।

5. ग सांस्कृतिक मूल्य :

किसी देश की संस्कृति उस देश के निर्माण में सहायक होती है, इसलिए समाज और संस्कृति का सम्बंध अत्यन्त निकट का होता है । संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में धीरे-धीरे विकसित होती है । भौगोलिक विभिन्नता के कारण विभिन्न देशों की संस्कृति भी भिन्न होती है फिर भी संस्कृति के कुछ उपादान शाश्वत एवं व्यापक होते हैं। संस्कृति शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक, 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट' का आगम करके 'क्तिन' प्रत्यय करने से बनता है ।[77] इसका अर्थ है -- 'भूषण-भूत सम्यक कृति।' अतः भूषण भूत सम्यक् चेष्टाएँ वही हैं जिनके द्वारा मानव अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति को प्राप्त करे और दूसरों को सुख-शान्ति प्राप्त करने दे । अतः मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि समस्त क्षेत्रों में लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की चेष्टा ही संस्कृति है ।[78] डॉ. श्यामसुन्दर दास ने संस्कृति को रहन-सहन की रूढ़ि कहा है ।[79] डॉ. देवराज के अनुसार -- 'संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती छवियों से फिर वे छवियाँ चाहे प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित सम्बोधित करता है ।'[80] संस्कृति शब्द की

अवधारणा वैसे अत्यंत व्यापक है और मानव के सभी प्रकार के आन्तरिक जीवन बौद्धिक, धार्मिक, नैतिक भावना को व्यक्त करती है, किन्तु सही अर्थों में यह मानवता के अपने आन्तरिक एवं स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना के प्रयत्नों का द्योतक है ।[81] अंग्रेजी साहित्य में संस्कृति के लिए 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है जो लैटिन भाषा के 'कुलतुरा' (cultura) शब्द से निकला है जिसका अर्थ है -- पैदा करना या सुधारना । यह 'कल्चर' शब्द 'कल्टीवेशन' का समानार्थक है जिसका अर्थ उन्नति या संवर्द्धन करना है ।[82] टी. एस. इलियट ने लिखा है -- 'कल्चर' क्रिया एवं व्यापारों की समष्टि मात्र नहीं अपितु जीवन व्यतीत करने का एक विशेष प्रकार है ।[83]

विभिन्न विद्वानों ने 'संस्कृति' को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है । सबकी विचारधाराओं के निष्कर्ष के रूप में यह विदित होता है कि संस्कृति व्यक्तिगत नहीं है बल्कि सामूहिक है, इसका विकास संस्कारों पर आधारित है । इसका मौलिक रूप चिर स्थायी है । सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि समस्त मानव समाज के विकास की व्यष्टिमय और समष्टिमय उपलब्धियाँ ही संस्कृति है । संस्कृति उस गुण का द्योतक है जो समस्त मानवता को विशेषता प्रदान करता है । मानवता को विशिष्ट बनाने वाले उसके आदर्श, उसकी परम्पराएँ और मान्यताएँ हैं । ये आदर्श ही मानव को सामान्य से विशिष्ट बनाते हैं । विशिष्टता प्रदान करने के कारण संस्कृति आचार-विचार मूलक सिद्ध होती है अर्थात् जिससे मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा-दीक्षा, ऐसा रहन-सहन और ऐसी परम्पराएँ ही संस्कृति के उद्‌भावक हैं । संस्कृति एक विरासत है जो कि संचय से ही विकसित होती है, उसे मनुष्य अर्जित करता है । संस्कृति का अर्थ उन मानव-मूल्यों से है जो मानव मन को अधोगामी से ऊर्ध्वगामी बना देते हैं । संस्कृति वह आधारशिला है जिसके आश्रय से जाति, समाज एवं देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है ।

सांस्कृतिक दृष्टि से सियारामशरण गुप्त के काव्य का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि उन्होंने पारिवारिक एवं नैतिक-मूल्यों की भाँति सांस्कृतिक-मूल्यों का भी सम्यक् निरूपण किया है । उन्होंने सांस्कृतिक मूल्यों को जन-जीवन में आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया है । जिनसे भारतीय संस्कृति की अस्मिता परिलक्षित होती है । संस्कृति ही मानव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करने में सहायक है । जैनेन्द्र के अनुसार -- 'संस्कृति के सिवा यह और किसी का काम नहीं कि होड़बाजों और स्पर्धावादियों के गिरोहों के बीच वह उस मानव की प्रतिष्ठा करे जिसके पास स्नेह का हृदय और कामकाज के हाथ हैं । मानव व्यक्तित्व और मानव श्रम की प्रतिष्ठा यदि संस्कृति की ओर से नहीं आएगी तो फिर किस ओर से उसकी आशा की जा सकती है ।''[84] मानव-जीवन के सभी संस्कार रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा तथा कला-कौशल आदि मिलकर सांस्कृतिक धरोहर होती है क्योंकि साहित्य के द्वारा जन-मानस की अभिव्यक्ति होती है । जनमानस युगानुरूप सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित होता है । फलस्वरूप साहित्य पर संस्कृति की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है । ''साहित्यकार वस्तुतः समकालीन चेतना का इतिहास लिखता है ।''[85] साहित्य के द्वारा सांस्कृतिक दिशा-निर्देश का कार्य सम्पन्न होता है और समकालीन संस्कृति की अभिव्यक्ति करता है । देश की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विचार-धाराओं को एक सूत्र में पिरोने का काम साहित्य के माध्यम से सम्पन्न होता है । सांस्कृतिक धरोहर साहित्यिक कृतियो में व्यक्त होकर अमरत्व ग्रहण करती है और साहित्य सांस्कृतिक तत्त्वों के सन्निवेश से सशक्त, समुन्नत और दीर्घ जीवी बनता है । अतः सियारामशरण गुप्त के काव्य में भारतीय संस्कृति के विकास की स्पष्ट झलक मिलती है ।

संस्कृति के विविध आयाम : संस्कृति के विविध आयामों में तीन रूपों का वर्णन किया गया है -- देव-संस्कृति, दानव संस्कृति और मानव-संस्कृति । देव संस्कृति में देवताओं से

सम्बंधित संस्कृति का निरूपण है । 'देव' शब्द अपनी व्युत्पत्ति में ही सांस्कृतिक विशेषताओं से परिपूर्ण है । देवता दीप्तिशाली एवं वैभव सम्पन्न होते हैं । वे अत्यन्त सुदृढ़, विशाल एवं स्वर्ण-महलों में निवास करते हैं । देवांगनाओं के साथ नृत्य करना, उत्सव मनाना, सुमधुर भोजन करना आदि इनके प्रमुख कर्म बतलाए गए हैं । ये अमर होते हैं । प्रमुख रूप से देव- संस्कृति विलासमय है । सियारामशरण गुप्त के काव्य में देव-संस्कृति का सुन्दर निरूपण हुआ है । देव-संस्कृति के अन्तर्गत् उन्होंने शिव, इन्द्र, राम, कृष्ण, सूर्य, चन्द्र, सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, गंगा आदि का वर्णन किया है । भगवान दीनों की पुकार पर दौड़े आते हैं यह सोचकर मोहन भी दुःखी होकर राम को याद करता है :

हम हैं क्या हे राम, यहाँ दुःख सहने को

नहीं दीखता ठौर कहीं जग में रहने को ।[86]

सुखिया का पिता भी सुखिया को रोग मुक्त करने के लिए देवी माँ से प्रार्थना करता है :

हे माताः, हे शिवे, अम्बिके

तप्त ताप यह शान्त करो ।[87]

चम्पा गंगा से अपनी बेटी तक दूध पहुँचाने के लिए गंगा की पूजा-अर्चना करती है :

किया प्रणाम भक्ति-युत उसने

सुरसरि को हो विनत-वदन[88]

कवि सरस्वती की वंदना करता है :

हे साधन-सिद्धि ललित वीणे ?

तू हे कल-कण्ठ-कलित वीणे ?

मेरे जीवन में कर निवास ।[89]

परम तत्त्व की सत्ता स्वीकारते हुए कवि कहता है :

नहीं दूसरा है वह कोई

उसे रहीम कहो या राम ।[90]

शिव ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रक्षार्थ कालकूट विष का भी पान कर लिया :

पान कर लिया शिव शंकर ने

कालकूट निश्शेष ।[91]

गुप्त जी ने राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार कहा है । उनके अवतारी राम-कृष्ण भूतल को निशाचरों से मुक्त कराते हैं :

जिन प्रभु ने अवतार स्वयं ही धारण करके

मारे निशिचर-वृन्द भार भूतल का हरके ।[92]

देवता मंगलकारी होते हैं इसलिए उनसे काव्य में मंगल की कामना की जाती है। इस प्रकार देव संस्कृति कल्याणकारी है ।

दानव संस्कृति में दानवों से सम्बंधित संस्कृति का उल्लेख होता है । असुर, राक्षस आदि दानव के पर्याय हैं । दानव गगनचारी, विलासी, सुरापान करने वाले होते हैं। ये सुरांगनाओं का बलात् अपहरण करते हैं । ये अत्यन्त शक्तिशाली और अत्याचारी होते हैं। ये अपनी प्रबल शक्ति का दुरुपयोग करते हैं । सियारामशरण गुप्त के काव्य में दानव-संस्कृति का भी निरूपण हुआ है । दानवों का मूल ध्येय होता है -- निर्बलों का शोषण करना :

निर्बलों पर रात-दिन हैं टे रहे

मंत्र इनका, मारकर खाओ जियो ।[93]

दानव-संस्कृति का प्रतिनिधि रावण है, जो दूसरों को कष्ट देकर अपनी विजय का शंखनाद

करता है -- नई विजय पाकर लौटा है रावण सैन्य समेत ।[94] वह अपने अन्तःपुर में असंख्य स्त्रियों के होते हुए भी सीता का अपहरण कर राक्षसी-वृत्ति का परिचय देता है :

राक्षसों के गेह रहीं बद्ध श्री जनकजा ।[95]

समाज के लिए पिशाच वृत्ति दुःखदायी होती है । इसीलिए इसे समाज से नष्ट करने की बात कवि करता है । दो सम्प्रदायों के बीच लड़ाई भी दानव-वृत्ति का ही द्योतक है :

पर काफिर-म्लेच्छों से बढ़कर
दोनों के दोनों थे नीच ;
दैत्य और राक्षस घुस बैठे ;
आकर दोनों के उर बीच ।[96]

कवि सतत चल रहे युद्धों को देखकर दुःखित हो कह उठता है :

निगल रही है इस जगती को लौह यन्त्रिणी दानवता ।[97]

कवि ऐसी दानवता को समाज से उखाड़ फेंकने का आह्वान करता है :

मायावी महान वह, नित्य नये शस्त्रों से
साधा है महा विनाश मानव का उसने
उसके समक्ष तुच्छ कल्पना का दानव है
गक्ना पड़ेगा नया वज्र एक हमको
उसके निमित्त ।[98]

सियारामशरण गुप्त दानव को मानव बनने का आह्वान करते हैं :

हिंसक भी है नहीं निरा दानव ही दानव
सोया है अज्ञान दशा में उसका मानव
चेतेगा वह नहीं ग्राम्य गुरु के ताड़न से

कर उसका उन्नयन स्वयं उन्नत होंगे हम ।[99]

इस प्रकार दानवी संस्कृति वासना प्रिय होती है । यह मायावी, लज्जा विहिन, युद्धप्रिय, अविनयी आदि विभिन्न दुर्गुणों से परिपूर्ण होती है । सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में इस दानवी-संस्कृति का विरोध किया है ।

मनुष्यों की संस्कृति को मानव संस्कृति कहते हैं । इस संस्कृति द्वारा मानव का विकास होता है । मानव संस्कृति के अन्तर्गत् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को महत्त्व दिया गया है । विश्वबन्धुत्व की भावना एवं सर्व-कल्याण इस संस्कृति का मूल-मंत्र है । मानवता से अभिप्रेरित सम्पूर्ण क्रिया-कलाप इस संस्कृति के अन्तर्गत् परिगणित किए जा सकते हैं । सियारामशरण गुप्त ने मानव संस्कृति में मानव के क्रिया-कलापों का वर्णन किया है। मानव के उत्तम कर्मों के वर्णन के साथ-साथ पथ-भ्रष्ट हुए मानव का भी चरित्रांकन कर उसे सही मार्ग पर चलने को प्रेरित किया है । मानव-संस्कृति को गुप्त जी ने उत्तम संस्कृति कहा है। वे मनुज की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए कहते हैं :

मनुज से बढ़कर कहीं कोई नहीं
सब कहीं उसका सहज स्वामित्व है ।[100]

मानव-संस्कृति का साथ जड़-चेतन आदि सभी देते हैं :

चर-अचर तरू तृण लता गिरि वन विहग
मनुज को लय ताल स्वर देने चले ।[101]

इस संस्कृति का भविष्य उज्ज्वल तथा अति सुरक्षित है :

गर्भ में निश्चित सुरक्षित स्वस्थ है
भव्य भावी काल मानव जाति का ।[102]

मानव-संस्कृति को गौरवपूर्ण मानते हुए कवि कहता है :

मनुज को गौरवमयी नव क्रान्ति दूँ

दूर तक निज को जगा दूँ ज्योति में

क्षुद्र में मेरे महत् अवतीर्ण हो ।[103]

कवि ने मानव के कुकृत्यों की भी भर्त्सना की है । कुमार्गी मनुज को कवि ने पशु तुल्य माना है :

मनुज वैसे ही बने हैं भेड़िए

हिंस्र बैर-विरोध से आक्रान्त हैं ।[104]

मानव को मानव का विरोधी नहीं होना चाहिए यदि ऐसा हुआ तो हम मानव नहीं दानव बन जायेंगे । इन भावों को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

हैं हम सब भाई-भाई ही,

हैं सबके अधिकार समान

नहीं होंगे मानव हम यदि

मानव को ही पीसेंगे ।[105]

इस प्रकार गुप्त जी कहते हैं मानव संस्कृति मनुष्य को विकास के उच्च सिंहासन पर आरूढ़ करने में सक्षम है । सियारामशरण गुप्त भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक हैं । भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी आस्था दृष्टव्य है :

है हम सबकी मातृभूमि, भय हारिणी माता,

बस तेरा ही रूप हमें जी से है भाता

तेरा-सा सौन्दर्य सृष्टि में दृष्टि न आता

तेरी शोभा देख स्वर्ग भी है सकुचाता ।[106]

सियारामशरण गुप्त सुष्ठु शृंगार के समर्थक हैं । उनके शृंगार में स्थूलता के

स्थान पर सूक्ष्मता और विकृति के स्थान पर प्रांजलता का प्राधान्य है । वे ऐसे सौन्दर्य की वकालत करते हैं जो सत्य एवं शिव दोनों से समन्वित होः

कोई दिव्य देवी दयादीप लिये जाती थी

मार्ग में सुवर्ण-रश्मि - राशि बरसाती थी ।[107]

वे रूढ़ियो व दिखावटीपन के प्रबल विरोधी थे । राम और रहीम का नाम लेकर जो लूट-मार, उत्पात, लड़ाई-झगड़े करते हैं, उनको फटकारते हुए कहते हैं :

किस ऋषि ने किस पैगम्बर ने

दिया तुम्हें है यह आदेश

लूट-पाट उत्पात करो यों

पहुँचाकर औरों को क्लेश ?[108]

उनके द्वारा समर्थित भारतीय संस्कृति तद्युगीन चेतना से प्रभावित थी । गुप्त जी ने प्राचीन एवं ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा बिखरी हुई भारतीय संस्कृति को समन्वित करने का प्रयास किया है । उन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम एकता को भी सांस्कृतिक एकता का प्रतीक माना है :

इस मंडी में मुसलमान है

नमक दाल में हों जैसे

X X X

मीठा-मीठा नमक दाल से

दाल नमक से मीठी ।[109]

तत्कालीन जनमानस पाश्चात्य संस्कृति से प्रेरित हो रहा था, एतदर्थ उन्होंने पुरातन संस्कृति के प्रति लोगों के हृदय में मोह उत्पन्न कराया । पुरातन एवं नवीन दोनों के

समन्वय द्वारा उन्होंने एक ऐसी संस्कृति का उद्‌भव किया जो मानव-विकास में सहायक सिद्ध हुई। इस प्रकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उन्होंने स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा की स्थापना की ।

भारतीय चेतना युगों -युगों से सांस्कृतिक विघटन एवं पुनर्निर्माण से प्रभावित होती रही है । द्रविड़, आर्य, बौद्ध, जैन आदि विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति प्रभावित रही है । संस्कृति का पुनर्निर्माण विभिन्न व्यक्तियों द्वारा युगानुरूप होता आया है। भारतीय सांस्कृतिक चेतना जब भी विघटित होने लगी तभी पुनर्निर्माण के राष्ट्रीय उद्‌घोष से जागृत हुई । संस्कृति के समुन्नत रूप के प्रभाववश विश्व मानवता का उदय हुआ। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भी इसी का द्योतक है । गुप्त जी के काव्य में सांस्कृतिक विघटनकारी तत्वों के विनाश हेतु सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की चेतना को जागृत रूप में अभिव्यंजित किया गया है । उनके सदविचारों ने लोगों को प्रेरित किया । उन्होंने मानव-मानव में प्रेम जागृत किया तथा सबकी शान्ति की कामना की है । युद्ध को विघटनकारी मानते हुए हिंसा युक्त युद्ध की भर्त्सना की :

कुत्सित घृण्य जघण्य अरे हो उच्च सांस्कृतिक तुम ऐसे हो ![110]

स्वत्व की रक्षा हेतु दुराचारियों के दमन को उन्होंने अति आवश्यक माना है।[111] पुनर्निर्माण की प्रक्रिया शुभ-चेतनशील प्राणियों द्वारा संचालित होती है और अन्ततोगत्वा पुनर्निर्माण की संस्कृति विजयी होकर सम्पूर्ण जन-मानस को प्रबुद्ध एवं शुद्ध बनाती है ।

मानव चेतना जिन माध्यमों में अभिव्यंजित होती है उन माध्यमों में कला भी एक माध्यम है । कला द्वारा चेतना का लोकोत्तर स्वरूप दृष्टिगत होता है । वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि भारतीय ललित कला के रूप हैं । इन कलाओं का समन्वय संस्कृति में किया गया है । किसी भी देश की कलाएँ वहाँ की

सांस्कृतिक धरोहर होती हैं और ये मानव के सांस्कृतिक मूल्यों को उद्‌घाटित करती हैं। सियारामशरण गुप्त के काव्य में भी कला का लोकोत्तर रूप अभिव्यक्त है । उन्होंने बाह्य अभिव्यक्ति को ही कला के रूप में स्वीकार किया है ।

वास्तुकला : वास्तुकला का प्रारंभ वैदिककाल में ही हो गया था । वैदिक काल में इसका प्रयोग यज्ञों की बेदी के निर्माण में किया जाता था । मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में वास्तुकला का विधिवत विकास हो चुका था । समयानुसार धीर-धीरे वास्तुकला में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते रहे हैं । मन्दिर, महल, बाबड़ी, सरोवर, मस्जिद आदि वास्तुकला के सुन्दर निदर्शन हैं । सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में वास्तुकला का वर्णन किया है। 'आर्द्रा' काव्य की 'एक फूल की चाह' नामक कविता में मन्दिर का अद्‌भुत वर्णन है :

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर
मन्दिर था विस्तीर्ण विशाल
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे
पाकर समुदित रवि-कर-जाल ।[112]

वाराणसी के विश्वनाथ मन्दिर का अद्‌भुत् चित्रण भी कवि ने किया है :

विश्वनाथ, हा विश्वनाथ ! तुम
हो यथार्थ ही पत्थर के ?[113]

ऊँचे-ऊँचे महलों का वर्णन भी उनके काव्य में हुआ है :

अमल राज प्रसाद उच्च वह
इस नक्षत्र नगर का ।[114]

बावड़ी[115], सरोवर[116], मस्जिद[117] आदि का वर्णन भी कवि ने किया है ।

मूर्तिकला : हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से काँसे की एक नाचती हुई लड़की की मूर्ति, पशुपति की मूर्तियाँ, खिलौने, बरतन, सोने के छोटे-छोटे फूल आदि प्राप्त हुए । इनसे मूर्तिकला का परिचय प्राप्त होता है । धीरे-धीरे दुर्गा, शिव, गणेश, विष्णु, हनुमान आदि की मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं । साहित्य में भी मूर्तिकला का वर्णन प्रस्तुत किया जाने लगा। सियारामशरण गुप्त ने मूर्ति को प्रतिमा अथवा मूर्ति कहकर सम्बोधित किया है :

मग्न हो हे मूर्ति, तुम किस ध्यान में
लग्न हो तुम किस अपूर्व विधान में ।[118]

श्रीराम ने जानकी की स्वर्ण प्रतिमा का निर्माण कराया था । इसका भी मनोहारी चित्रण कवि ने किया है :

यज्ञ में करने को प्रतिपूर्ति
जनकजा की सोने की मूर्ति ।[119]

स्थान-स्थान पर राम, कृष्ण, दुर्गा, सरस्वती आदि देवी-देवताओं का स्मरण, पूजन किया गया है । पूजा-अर्चना आदि का किया जाना मूर्ति-पूजा का प्रतीक है । ईश्वर-आराधना की इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत होकर मूर्तिकला का विकास हुआ । कवि स्वयं कहता है :

दूर के दिवि लोकवासी देव को
इस धरा के धूलि पर पाषाण
खोदता गढ़ता चला मैं जा रहा ।[120]

चित्रकला : चित्रकला एक चित्रकार के हृदय की अभिव्यक्ति होती है । चित्रकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है । अजन्ता, एलोरा, तंजोर आदि के भित्ति चित्र छठी या

सातवीं शताब्दी के बाद के हैं । समयानुसर चित्रकला का विकास हुआ । गुप्त जी भी इससे अछूते न रहे। 'विषाद' काव्य की 'चित्रांकिता' कविता में चित्रकला के प्रति समर्पित भावना के दर्शन होते हैं :

हे चित्र-चित्रिते, इस प्रकार
इन अपलक नयनों से निहार[121]

भक्त भगवान के पावन चित्र को हृदयांकित कर उसकी आराधना करता है ।[122] कदम्ब के नीचे श्रीकृष्ण का चित्र-सम ध्यानमग्न अवस्थित होना चित्रकला का सुन्दर निदर्शन है ।[123]

संगीतकला : भारतीय शास्त्रकारों ने गायन, वादन और नृत्य तीनों को संगीत के अन्तर्गत् माना है ।[124] उन्होंने इन तीनों कलाओं को परस्परालम्बी बताया है । वीणा, बाँसुरी, शंख, तबला, सारंगी, ढोलक, मंजीरा आदि वाद्ययन्त्रों का वर्णन भी शास्त्रों में किया गया है । सियारामशरण गुप्त भी संगीत-कला के प्रेमी थे । उनके काव्य में यत्र-तत्र संगीतात्मकता परिलक्षित होती है । 'वीणा' कविता में वाद्य को संबोधित करते हुए कवि कहता है :

हे साधन-सिद्धि ललित वीणे !
तू हे कल-कण्ठ-कलित वीणे !!
मेरे जीवन में कर निवास ।[125]

'एक फूल की चाह' कविता में भक्तजन देवी की स्तुति करते हुए भक्ति गीत गाते हैं।[126] 'चरखा गीत' में कवि ने चरखे की भन-भन की आवाज को जन-जन का संगीत कहा है ।[127] 'शंख-नाद' कविता में भी कवि के संगीत-प्रेमी होने का स्पष्ट संकेत मिलता है:

ओ भैरव, कवि की वाणी का
मृदु माधुर्य लजा दे आज

वंशी के होठों पर अपना

निर्मम शंख बजा दे आज ।[128]

गुप्त जी ने राष्ट्रीय गीत[129] झंडा-गीत[130] उद्‌बोधन गीतों[131] को भी संगीतमय शैली में प्रस्तुत किया है ।

नृत्यकला : मोहनजोदड़ो की खुदाई में काँसे की एक नग्न नर्तकी की मूर्ति प्राप्त होने से यह ज्ञात हुआ है कि नृत्यकला प्राचीन काल से प्रचलित थी । वैदिक-काल से ही स्त्रियाँ आकर्षक वस्त्र पहनकर नृत्य करती थीं । भरतनाट्यम, कथकली, कत्थक और मणिपुरी आदि नृत्यों का प्रचलन आज भी है । सियारामशरण गुप्त के काव्य में भी नुपूरों की झंकार का मनोहारी वर्णन है। 'सुनंदा' काव्य के उपक्रम में राजदरबार में बालाओं द्वारा नृत्य किये जाने का उल्लेख है।[132] 'ग्वालिने' कविता में कवि ने श्रीकृष्ण के मनोहारी नृत्य का वर्णन किया किया है :

यह नट-नागर नाच उठा है

बजा-बजा कर ताली ।[133]

निष्कर्षतः साहित्य समाज से जीवन का रस ग्रहण कर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है । अतः उसमें सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक है । सियारामशरण गुप्त का काव्य इस दृष्टि से अपने युग के समाज को अपने में संजोये हुए है। उनके काव्य में नैतिक तथा सांस्कृतिक पक्ष की अभिव्यक्ति भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप है । नैतिक आदर्शों की स्थापना के द्वारा उन्होंने समाज को नई दिशा प्रदान की । सांस्कृतिक मूल्यों में देव, दानव तथा मानव संस्कृति का निरूपण करते हुए उन्होंने मानव संस्कृति को उच्चासन पर आरूढ़ किया है । ललित कलाओं को अपने काव्य में स्थान प्रदान कर भारतीय संस्कृति को गरिमा प्रदान की है । अतः सियारामशरण गुप्त के काव्य में सामाजिक मानव-मूल्यों का सर्वोत्कृष्ट रूप अभिव्यक्त हुआ है ।

संदर्भ :

1. भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में युग-चेतना : डॉ. बैद्यनाथ प्रसाद शुक्ल, पृ. 40
2. आलोचना : सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 18
3. समाजवाद : डॉ. सम्पूर्णानन्द , पृ. 19
4. समाजशास्त्र के सिद्धान्त : राजेन्द्र जायसवाल, पृ. 2
5. 'Art is the product of society as the pearl is the product of the oustar' Illusion & Reality : Codwell, p. 9
6. आलोचना : सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 23
7. प्रगतिशील साहित्य के मानदंड : डॉ. रांगेय राघव, पृ. 64
8. The widest expression of the family is the sub-caste which often consites only of a few joint family which intermarry and interdine among themselves. Beyond the extended joint family the Hindu is practice recognises no s ociety or community . : Hindu Society : K. M. Panikar, p. 18
9. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 258
10. The family : Burgers and Locks, p. 8
11. Marriage : Dr. E. Werter Mark, p. 5
12. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2): सं. ललित शुक्ल, पृ. 386
13. वही, पृ. 388
14. वही, पृ. 66
15. वही, पृ. 66
16. वही (खण्ड -1), पृ. 66
17. वही, पृ. 259
18. भारतीय संस्कृति : प्रो. शिवदत्त ज्ञानी, पृ. 86
19. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1): सं. ललित शुक्ल, पृ. 103
20. वही, पृ. 60
21. वही, पृ. 156
22. मनुस्मृति, 4 / 18
23. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1): सं. ललित शुक्ल, पृ. 446
24. वही (खण्ड - 2), पृ. 375
25. वही (खण्ड - 1), पृ. 70
26. वही, पृ. 71
27. वही, पृ. 95

28. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 132
29. मनुस्मृति, 3 / 56
30. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन : डॉ. लक्ष्मी नारायण गुप्त, पृ. 192
31. हरिजन वीमेन एण्ड सोसल इनजस्टिस, पृ. 178 - 179
32. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड- 2): सं. ललित शुक्ल, पृ. 376
33. वही (खण्ड- 1), पृ. 438
34. वही, पृ. 123
35. वही (खण्ड- 2), पृ. 397
36. वही, पृ. 401
37. वही, पृ. 60
38. वही, पृ. 330
39. वही, पृ. 108
40. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : सं. द्वारका प्रसाद शर्मा, पृ. 611
41. हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास : डॉ. रामस्वरूप शास्त्री, पृ. 15
42. भारतीय नीतिशास्त्र : डॉ रामनाथ शर्मा, पृ. 5
43. सरस्वती, (मार्च, 1955), पृ. 187
44. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड- 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 394
45. वही, पृ. 64
46. वही, पृ. 222
47. वही (खण्ड- 1), पृ. 189
48. वही, पृ. 194
49. वही, पृ. 196
50. वही, पृ. 449
5. वही, पृ. 53
52. वही, पृ. 56
53. वही, पृ. 221
54. वही, पृ. 437
55. वही (खण्ड- 2), पृ. 376
56. महाभारत (वन पर्व), 2 / 46
57. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड- 1): सं. ललित शुक्ल, पृ. 73
58. वही, पृ. 111
59. वही, पृ. 186
60. वही, पृ. 52

61.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड- 1): सं. ललित शुक्ल, पृ. 407
62. वही (खण्ड- 2), पृ. 151
63. नीतिशतकम्, पृ. 81
64. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड- 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 106
65. वही, पृ. 103
66. वही, पृ. 168
67. वही, पृ. 414
68. चाणक्यसार संग्रह, 1 / 50
69. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड- 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 66
70. वही, पृ. 459
71. वही (खण्ड- 2), पृ. 414
72. वही, पृ. 68
73. वही, पृ. 65
74. वही, पृ. 157
75. वही, पृ. 222
76. वही (खण्ड - 1), पृ. 116
77. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : सं. द्वारका प्रसाद शर्मा , पृ. 3415
78. कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति : डॉ. गायत्री वर्मा, पृ. 1
79. हिन्दी शब्द सागर (चतुर्थ भाग) : डॉ. श्यामसुन्दर दास , पृ. 3415
80. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : डॉ. देवराज, पृ. 173
81. Primitive culture, quoted by Obguru and Nimkoss: E.B.Taylor, p. 29
82. Comprehensive English-Hindi Dictionary : Dr. Raghuvira, p. 447
83. Culture is not merely the sum of several activities but a way of life. The Defination of culture : T. S. Eliot, p.120
84. साहित्य और संस्कृति : जैनेन्द्र कुमार, पृ. 225
85. बिन्दु : सं. नन्द चतुर्वेदी, पृ. 285
86. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 73
87. वही, पृ. 112
88. वही, पृ. 147
89. वही, पृ. 204
90. वही, पृ. 222
91. वही, पृ. 372

92. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 43
93. वही (खण्ड - 2), पृ. 362
94. वही, पृ. 37
95. वही (खण्ड - 1), पृ. 122
96. वही, पृ. 225
97. वही, पृ. 306
98. वही, पृ. 432
99. वही, पृ. 495
100.वही, (खण्ड -2), पृ. 316
101.वही, पृ. 314
102.वही, पृ. 314
103.वही, पृ. 323
104.वही, पृ. 171
105.वही (खण्ड - 1), पृ. 306
106.वही, पृ. 349
107.वही, पृ. 161
108.वही, पृ. 222
109.वही (खण्ड - 2), पृ. 52
110.वही (खण्ड - 1), पृ. 480
111.वही, पृ. 487
112.वही, पृ. 115
113.वही, पृ. 139
114.वही (खण्ड - 2), पृ. 172
115.वही, पृ. 147
116.वही , पृ. 97
117.वही (खण्ड - 1), पृ. 238
118.वही, पृ. 197
119.वही, पृ. 168
120.वही (खण्ड - 2), पृ. 309
121.वही (खण्ड - 1), पृ. 162
122.वही, पृ. 336
123.वही (खण्ड - 2), पृ. 246
124.भारतीय संस्कृति : डॉ. लल्लन गोपाल, पृ. 272

125.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1), सं. ललित शुक्ल, पृ. 204
126.वही, पृ. 115
127.वही (खण्ड -2), पृ. 382
128.वही (खण्ड -1), पृ. 311
129.वही (खण्ड -2),पृ. 17
130.वही, पृ. 404
131.वही, पृ. 411
132.वही, पृ. 182
133.वही (खण्ड - 1), पृ. 359

षष्ठ अध्याय

सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित अध्यात्मिक मानव-मूल्य

षष्ठ अध्याय

सियारामशरण गुप्त के काव्य में वर्णित आध्यात्मिक मानव-मूल्य

आध्यात्मिक मूल्य मानव की उदात्त प्रवृत्तियों का उत्कर्ष करते हैं । मनुष्य सदैव उच्चतर लक्ष्य की ओर उन्मुख रहा है । वह जितना आगे बढ़ा है उसका चरम लक्ष्य व्यापक, गहन, विस्तृत, और सूक्ष्म हो गया है । वह भौतिक मूल्यों का अतिक्रमण करके आध्यात्मिक परम श्रेयस की ओर अग्रसर हुआ है ।[1] भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्रायः मोक्षान्वेषी जीवन के लिए होता है । इसी कारण यहाँ आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान एवं आत्म-नियन्त्रण का विस्तार आध्यात्मिक मूल्यों की सीमा में होता है । संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार --''अध्यात्म का अर्थ (आत्मनः संबद्धम्) आत्मा या व्यक्ति से सम्बंध रखने वाला है । 'अध्यात्म' में 'ठञ्' प्रत्यय लगने से आध्यात्मिक शब्द बना है, जिसका अर्थ है -- परमात्मा से सम्बंध रखने वाला, आत्मा-सम्बंधी, पवित्र तथा मन से सम्बंध रखने वाला आदि ।''[2]

प्राचीन काल से ही ईश्वर को आध्यात्मिक सत्ता का केन्द्र माना गया है । वह विश्व कल्याणकारी एवं मनुष्यों में श्रेष्ठता का प्रतीक रहा है । उसकी परिकल्पना शाश्वत न होकर प्राकृतिक शक्ति, देव पुरुष, अवतार आदि में परिवर्तित होती रही है । इसके साथ ही साथ वह सत्य, सौन्दर्य और आनन्द का मूल्य कोष भी माना जाता रहा है । इसलिए ईश्वर को समस्त मूल्यों का स्रष्टा समझा जाता है । पं. गोपीनाथ ने लिखा है -- ''संसार में जो कुछ है अथवा होगा सब ईश्वर से उद्भूत् है, ईश्वर में स्थित है एवं ईश्वर में ही विलीन होता है ।''[3] सृष्टि के उद्भव के साथ ही साथ जीवन-संचालन हेतु मानव को स्वयं को विभिन्न नियमों, उप-नियमों में आबद्ध करना पड़ा । स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नदी, पेड़, फल, पत्थर आदि का सहारा लेना पड़ा । उन्हें संतुष्ट करने के लिए इनके प्रति

मानव नैतिक रूप से विवश होता गया । इससे प्रभावित होकर आध्यात्मिक शक्ति का विकास हुआ । यही आध्यात्मिक चेतना मानव जीवन को सुखी बनाने में क्रियाशील होती है। इस चेतना का उत्तरोत्तर अभाव मानव-सुख के उत्तरोत्तर अभाव का प्रतीक है और चेतना का उत्तरोत्तर विकास मानव-सुख के उत्तरोत्तर विकस का परिचायक है । सर्व प्रकारेण सुखी होने के लिए मानव ने नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का सहारा लिया । ईश्वर को साध्य माने जाने के कारण आध्यात्मिक मूल्य भी साध्य मूल्य माने गये हैं । इन साध्य मूल्यों में ज्ञान, कर्म, धर्म, निष्ठा, साधना, सहिष्णुता, समर्पण आदि प्रमुख हैं ।

6. क ज्ञान :

'ज्ञा' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर ज्ञान शब्द बना है । जिसका अर्थ है -- जानना, समझना, परिचित होना, प्रवीणता आदि ।[4] ज्ञान मानव का एक विशिष्ट मूल्य है क्योंकि ज्ञान द्वारा ही आत्मोन्नति संभव है। मानव जन्म के समय अपूर्ण होता है । ज्ञान द्वारा वह पूर्णत्व को प्राप्त करता है । इस पूर्णता के तीन स्तर हैं -- आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक । इनका क्रमशः सम्बंध तन, मन और बुद्धि से होता है । इन्हीं तीनों स्तरों के सामंजस्य से मानव में पूर्णता आती है । ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । ज्ञान का समुद्र इतना अगाध है कि हजारों वर्षों के परिश्रम से भी मानव अभी तक उसकी गहराई नहीं माप सका है । ज्ञान द्वारा ही मानव पशुता की कोटि से ऊपर उठ मानव कहलाता है । चाणक्य ने ज्ञान को ही सबसे बड़ा सुख कहा है -- 'नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्'।[5]

सियारामशरण गुप्त ने ज्ञान को मानवीय-मूल्यों के अन्तर्गत् स्वीकार किया है। उनके काव्य में ज्ञान का विस्तृत वर्णन हुआ है । वे ज्ञानार्जन को मानव का प्रमुख कर्त्तव्य मानते हैं क्योंकि ज्ञान परम तत्त्व की अनुभूति कराता है । यह अनुभूति ईश्वर प्रदत्त ज्ञान से ही संभव है । इसलिए सद् ज्ञान प्राप्ति हेतु मानव ईश्वर की आराधना करता है :

असत् से सत् में हमें तुम ले चलो

ले चलो हमको तिमिर से ज्योति में

मृत्यु से अक्षय अमृत में ले चलो ।[6]

मानव को प्रथम ज्ञान देने वाली यह धरती माता ही है क्योंकि इसी धरती पर वह ज्ञानवान बनता है :

तेरी स्तन्य सुधा पीकर जिस दिन मेरे नयन खुले

तेरे ही श्रावणिक-स्रोत से मेरे कण-कण धुले-धुले ।[7]

वाणी और अर्थ दोनों का समन्वित ज्ञान ही श्रेष्ठ ज्ञान कहलाता है :

गिरा अर्थ से अर्थ गिरा से

सादर समलंकृत है आज ।[8]

इसी श्रेष्ठ ज्ञान के कारण ही मानव जन्म और मृत्यु के भेद को समझ पाता है :

जीवन-मरण यमज सोदर हैं,

दोनों हैं समकाय

प्राप्त हमें होते हैं आकर,

किसी एक क्षणजन्य ।[9]

देव-दानव भी अज्ञानता के कारण आपस में लड़े किन्तु जब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि हमारा शत्रु तो मृत्यु है तब दोनों ने ज्ञान के आधार पर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए सागर मंथन की योजना बनाई :

हम दोनों का एक शत्रु है

महा मरण सहजात ।[10]

ज्ञान रूपी रश्मि के इस धरती पर फैलते ही अज्ञान-रूपी अंधकार छिन्न-भिन्न हो जाता है :

आई अहा ! मूर्ति वह हँसती
जैसे एक पुण्य रश्मि स्वर्ग से उतर के
अंध तमः पुंज छिन्न करके
दीख पड़ी अन्तस में धँसती ![11]

ज्ञान के प्राप्त होते ही मनुज का भाग्य भी परिवर्तित हो जाता है :

आगे गई, पीछे गई, प्रोज्ज्वल प्रकाश-गिरा ।
भाग्य सदियों का फिरा ।[12]

ज्ञान रूपी पारस सहज प्राप्त नहीं होता उसे प्राप्त करने के लिए कठिन साधना करनी पड़ती है :

सहज प्राप्य है नहीं सभी को वह प्रिय पारस ।[13]

आत्म ज्ञान एवं सद्ज्ञान प्राप्त होने पर मानव समय के मूल्य को भी समझने लगता है :

चला गया है आज हमारा
एक दिवस यह और
समय विगत होता रहता है
इसी तरह सब ठौर ।[14]

संसार के सुख-दुःखों का समय को कोई आभास नहीं है । वह तो निरन्तर गतिमान है उसे किसी पर दृष्टि डालने का अवकाश नहीं है :

सुख की खिली चाँदनी हो या
होती हो दुःख-वृष्टि

किन्तु ठहर कर समय न इन पर

कभी डालता दृष्टि ।[15]

ज्ञानाज्ञान के कारण ही इस पृथ्वी पर छोटे-बड़े तथा सम-विषम का भेदभाव है। जो अज्ञानी हैं, वे इस भेद को स्वीकार करते हुए कहते हैं :

इस जगती में क्षुद्र-महत् का भेद नहीं क्या,

गिने जायें सम-विषम एक से सभी कहीं क्या ?[16]

इसके विपरीत आत्म ज्ञानी इसको गौण मानते हुए जन्म-मृत्यु के रूप में सभी समान हैं ऐसा मानते हैं :

होगा निश्चय शुद्र-महत का भेद भुवन में,

सब हैं एक समान परन्तु मरण-जीवन में ।[17]

ज्ञान के प्रताप से ही मानव के अन्दर का भय समाप्त हो जाता है । ज्ञान के आगे भय का कोई प्रभाव नहीं रहता है :

भय न करो रे प्राण, नहीं भय का कुछ कारण,

कुछ कर सकता नहीं काल का क्रूर प्रहारण ।[18]

ज्ञानी पुरुषों के लिए ज्ञान उस धारा के समान है । जो कठिन मार्ग को भी सुगम बना लेती है :

इस धारा के लिए दुरित दुर्भेद्य सुगम हैं,

उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सब सम हैं ।[19]

भिन्नता में भी अभिन्नता के दर्शन ज्ञान द्वारा ही संभव है :

नूतन प्रतिष्ठा नित्य पाता रहा

भिन्नता में भी अभिन्न वसुधा का एक ज्ञान ।[20]

ज्ञान का अस्तित्व शाश्वत है । ज्ञान से प्रेरित होकर ही मानव आध्यात्मिक सत्य की खोज करता है तथा बहु रूप में प्रतीयमान उस अव्यक्त सत्ता ब्रह्म को जानकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है :

एक ही निमेष वह मेरे एक जन्म सम
मेरे मनोदोल पै अनन्त काल झूलेगा ;
सुकृति समान वह मुझको न भूलेगा ।[21]

ज्ञान से ज्ञाता का स्वयं अपने को जानना पहला लक्ष्य है । ज्ञान द्वारा मानव स्वयं की ही खोज करता है क्योंकि अज्ञानवश वह स्वयं को भूलकर दुःखों को प्राप्त करता है । ज्ञान प्राप्त होने पर वह दुःखों से छूटकर परमात्मा प्राप्ति के लिए संलग्न होता है, इसलिए ज्ञान को आध्यात्मिक मूल्य माना जाता है । अतः ज्ञान द्वारा ही मुक्ति संभव है ।

6. ख कर्म :

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है ; 'कृ' धातु का अर्थ है - करना । जो कुछ किया जाता है, वही कर्म है । 'गीता' के अनुसार कर्म जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने की एक वैकल्पिक पद्धति है, जिसका पर्यावसान ज्ञान में होता है :

श्रेयांद्रव्यम यागज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्व कर्मखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।[22]

शंकराचार्य ने कर्म को आध्यात्मिक मूल्य मानते हुए लिखा है -- ''कर्म और भक्ति आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साधन हैं किन्तु आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, सक्रियता के साथ असंगत नहीं है । कर्त्तव्य रूप में कर्म भले ही समाप्त हो जाए समस्त गतिविधियाँ स्वतन्त्र और स्वतः स्फूर्त होती हैं, परवशात्मक नहीं । ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी वे विश्व-कल्याण के लिए कर्मरत रहते हैं ।''[23] अतः कर्म मानव-जीवन का विशिष्ट अंग है । कर्मरत

मानव सहज ही विकास पथ पर अग्रसर होता है । जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कर्म भी एक साधन है । इसलिए मानव को केवल सामाजिक ही नहीं आध्यात्मिक भवितव्यता वाले व्यक्ति के रूप में भी कुछ न कुछ अवश्य करते रहना चाहिए । ''मानव की सभी शक्तियों में कर्म शक्ति सबसे प्रबल होती है जो उसके चरित्र पर प्रभाव डालती है, उसका जैसा कर्म होता है, इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है । संसार में प्रबल इच्छा शक्ति सम्पन्न जितने महापुरुष हुए हैं, वे सभी धुरन्धर कर्मी दिग्गज आत्मा थे । उनकी इच्छा शक्ति ऐसी प्रबल थी कि वे संसार को भी उलट-पलट सकते थे । यह शक्ति उन्हें युग-युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी ।''[24] ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महात्मा गाँधी आदि ऐसे ही महापुरुष हैं । समस्त कर्मों का उद्देश्य है-- मन के अंदर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना, आत्मा को जागृत कर देना। प्रत्येक मानव के अन्दर शक्ति और पूर्ण ज्ञान विद्यमान है । भिन्न-भिन्न कर्म इन महान शक्तियों को जागृत करने तथा बाह्य रूप में प्रकटित होने में सहायक होते हैं ।

कर्म-सिद्धान्त के प्रबल पक्षधर हैं -- कवि सियारामशरण गुप्त । वे एक ऐसे नर रत्न हैं जो केवल कर्म के लिए ही कर्म करते हैं । उन्हें यश अथवा स्वर्ग की परवाह नहीं है। वे केवल इसलिए कर्म करते हैं अथवा कर्म करने की प्रेरणा देते हैं कि उससे सर्व-कल्याण हो । उन्होंने 'गीता' के सिद्धान्त को ही ग्रहण किया है -- ''हमें कर्म करने का ही अधिकार है कर्म-फल में हमारा कोई अधिकार नहीं ।''[25] 'कर्मक्षेत्र ही मानुष्यम्'[26] के प्रबल पोषक गुप्त जी ने भी कर्म को ही प्रधानता दी है :

हम विघ्न के भय से कभी कर्त्तव्य को छोड़ें नहीं,
सद्धर्म और सुकर्म से हम मुँह कभी मोड़ें नहीं ।[27]

मानव को कर्म में इतना लीन हो जाना चाहिए कि कार्य समाप्ति के बाद ही वह विराम ले :

हे नाथ, लें न विराम हम,

दिन-भर करें बस काम हम ।[28]

जो कुछ भी हम करना चाहते हैं उसे शीघ्र ही कर लेना चाहिए, अन्यथा समय साथ छोड़कर आगे बढ़ जाता है :

करना हो जो करें शीघ्र हम तज आलस्य अभंग,

क्या जाने कब छूट जाय इस समय-सखा का संग ।[29]

कवि कहता है कि विश्व में रवि, शशि, चर, अचर सभी स्व कर्त्तव्यरत हैं । तृण-सम लघु जीवन का भी एक उद्देश्य होता है, जिसके सम्पादन हेतु सभी कार्यरत हैं । समीर अविश्रामी होकर निरन्तर कर्मशील है :

नहीं दिखता तनिक तुम्हें विश्राम है,

सतत भ्रमण ही एक तुम्हारा काम है ।[30]

पथ भी कर्मरत होकर लोगों को गन्तव्य स्थान तक पहुँचाता है :

रात दिन मग्न रह मौन आत्मतप में

कितने प्रवासियों को मर्त्यलोक-वासियों को

तुमने ठिकाने पहुँचाया है ; पार-सा लगाया है ।[31]

गाँधी जी की कर्म - परायणता ने भी कवि को बहुत प्रभावित किया है । उन्होंने बापू को ही कर्म की संज्ञा प्रदान की है :

भूत भविष्यत् का सुकृति स्थल धन्य आज का है यह लघु पल ;

यह लघु विपुल-बृहत् से उज्ज्वल ; सीमित भी विस्तृत है आज ;

वाणी के मन्दिर में आकर कर्म स्वयं झंकृत है आज ।[32]

'खनक' के रूप में कवि सभी को कर्मशील होने की प्रेरणा देता है :

हे खनक, किए जा कूप-खनन

तू यहाँ बीच में ही न हार ।[33]

पृथ्वी में असंख्य रत्न हैं उन रत्नों को पाना दुर्लभ है । जो निरन्तर परिश्रम करता है वह ही इन रत्नों का सुख भोग पाता है । इसी वसुन्धरा पर अवस्थित अमृत रूपी सुख को पाना तो और भी दुष्कर है । उसे प्राप्त करना है तो कर्मरत होना ही पड़ेगा :

रत्नालय यह वसुधा का, दुर्लभ इसकी थाह !

और, अमृत भी तो दुर्लभ है, सहज किसे वह लभ्य ?

उसे प्राप्त करने को हम अब कार्य करें कुछ नव्य ।[34]

कवि कहता है हम इतनी तन्मयता से कर्म करें कि थककर रात्रि को भरपूर नींद लें और प्रातः पुनः उत्साह के साथ कर्म में जुट जायें :

सन्ध्या समय ऐसे थकें, हम नींद गहरी लें सकें,

जिसमें कि हम फिर जब जगें, सोत्साह कार्यों में लगें ।[35]

उक्त पंक्तियों में कर्म के आध्यात्मिक पक्ष को उजागर किया गया है । मानव को शुभ कर्म करते हुए ही इस संसार से पलायन करना चाहिए तभी मानव जीवन की सार्थकता है । इसलिए जो कार्य हमारे सामने आयें, उन्हें हम हाथ में लें और शनैः शनैः उनको निःस्वार्थ भाव से सम्पन्न करें । कर्म को करते हुए आत्मिक प्रेरक शक्ति का ज्ञान भी पाते रहें । जिससे शुभ कर्मों को करते हुए ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो ।

कर्त्तव्यनिष्ठा मानव की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होती है । वह कर्त्तव्य है-- माता-पिता का बच्चों के प्रति, बच्चों का माता-पिता के प्रति, पति का पत्नी के प्रति तथा पत्नी का पति के प्रति आदि । कवि कहता है - मानव में इतनी शक्ति है कि वह अपनी भुजाओं के बल से स्वर्ग को भी धरती पर ला सकता है :

रूप मैं दूँगा अमूर्त अनाम को ।

उर्ध्व भुज मैं स्थिर चरण इस भूमि पर

खींच लाया स्वर्ग अपने साथ हूँ ।[36]

गुप्त जी ने कर्म को ही धर्म माना है । यदि मानव पूर्ण निष्ठा से किसी कार्य को करता है तो उसे सफलता अवश्य मिलती है :

होगा, हाँ, निश्चय ही होगा

पूर्ण सफल तेरा शुभ-काम ।[37]

मानव में अद्‌भुत् सामर्थ्य है वह अपनी क्रियाशीलता से मिट्‌टी को भी सुवर्ण में परिवर्तित कर सकता है :

वे सुसमर्थ ;

नहीं वह दुष्कर उनके अर्थ ।

किन्तु जब तक था निज अधिकार,

सौध वह था मिट्‌टी की तोल ।

कहीं पा लें तो इस वार

हो न मिट्‌टी वह स्वर्ण अमोल ।[38]

इस प्रकार सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य में कर्म के व्यापक रूप का प्रतिपादन किया है ।

6. ग धर्म :

'धृ' धातु से 'मन' प्रत्यय लगकर 'धर्म' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है -- धारण करना ।[39] वे सभी विचार एवं कर्म जो मानव की व्यक्तिगत इकाई से लेकर सम्पूर्ण मानव समाज के सर्वांगीण हित के लिए धारण करने योग्य हों 'धर्म' है ।

''साधारणतः सृष्टि के नियामक तत्त्व, कर्त्तव्य पालन, सदाचार, नैतिकता, व्यावहारिकता आदि धर्म के अन्तर्गत् आते हैं । उचित और अनुचित का निर्धारण करना धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष है ।''[40] अतः धर्म शाश्वत सिद्धान्तों का वह समुदाय है जिनसे समुचित मार्गानुसरण करते हुए मानव विकास करता है और अपना अस्तित्व धारण करता है । डॉ. मोहिनी शर्मा के अनुसार -- ''किसी उच्चतर, श्रेष्ठ और पवित्र शक्ति पर विश्वास करके उससे प्रार्थना, पूजा या आराधना के माध्यम से भावात्मक सम्बंध स्थापित करना ही धर्म है ।''[41] वेद, उपनिषद् तथा दर्शन में धर्म की विस्तृत व्याख्या हुई । वेद को धर्म का मूल कहा गया ।[42] वैशैषिक दर्शन में कहा गया है -- यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः -- जिससे अभ्युदय, लौकिक उन्नति और निःश्रेयस पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो वह धर्म है ।[43]

धर्म की एकांगी परिभाषाएँ भी दी गयीं हैं -- 'अहिंसा परमो धर्मः' [44] ; 'आचारः परमो धर्मः'[45] ; 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'।[46] धर्म के दस लक्षण बताए गये हैं - धैर्य, क्षमा, दया, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध ।[47] इन दस लक्षणों का पालन धर्म का पालन माना गया है । डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है -- ''पूर्व में धर्म आन्तरिक जीवन का सुसंस्कार है । यह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है और मूलतः एक व्यक्ति की व्यक्तिगत उपलब्धि है, जो पर्वत पर या मठों में एकान्त और निर्जनता में कठोर प्रयत्न द्वारा प्राप्त की जाती है ।''[48] इस प्रकार मानव-मूल्यों की स्थापना में धर्म का बहुत बड़ा योगदान है । पं. वेदप्रकाश शास्त्री ने लिखा है : ''धर्म वह है जो मानव का कल्याण करे, किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं । धर्म वह है जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त करे । मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, शारीरिक, सामाजिक, राष्ट्रीय उन्नति की प्रेरणा दे । जिसमें समानता, एकता, परस्पर

प्रेम, सौहार्द, सद्भावना, समदृष्टि उत्पन्न करने की क्षमता हो । ऐसे धर्म को धारण करके मनुष्य का वर्तमान भी सुधर सकता है और परजन्म भी ।''[49] मानव-हृदय धर्म-भावना से आप्लावित होकर सत्कार्य की ओर प्रवृत्त होता है ।

सियारामशरण गुप्त का अन्तःकरण धर्म-भावना से आप्लावित है । उनका सम्पूर्ण काव्य इसका द्योतक है । उनके काव्य में धर्म पालन की अभिरुचि वर्णित है। धर्म के अनेक रूप उनके द्वारा अभिव्यंजित हैं। ईश्वर समर्थन, परोपकार, दान, धैर्य, पाप-विरोध, रूढ़ि-विरोध, लोभ-विरोध आदि धर्म के विभिन्न रूप हैं । उन्होंने अपने काव्य में हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मों का वर्णन भी किया है । उनके अनुसार धर्म तोड़ने का नहीं, परस्पर जोड़ने का कार्य करता है और धर्म का मुख्य लक्ष्य सम्पूर्ण समाज को सुखी बनाना है । जो लोग धर्म का नाम लेकर हिंस-वृत्ति को बढ़ावा देते हैं वे लोग पाखण्डी ही हैं :

धर्म समझता है मनुजों का तो अपने कवि से सुन जा,
धर्म धर्म रटते हैं जो वे धर्म बहाना है उनका ।[50]

धर्म की जय ही सच्ची विजय है इस बात को स्वीकार करते हुए सम्राट अशोक ने अपनी विजय को अस्वीकार कर दिया था :

पूर्ण चेतना भाव से उद्बुद्ध मैं
कर रहा भू विजय अस्वीकार हूँ
भू विजय है स्थानबद्ध नितान्त जड़,
धर्म की जय ही सदा सच्ची विजय ।[51]

इस धर्म के लिए असंख्य लोगों ने अपने प्राण त्याग दिये :

मर मिटेंगे प्राण से प्रिय धर्म पर।[52]

गुप्त जी ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को उजागर करते हुए धर्म को मानव की आध्यात्मिक उन्नति का प्रबल द्योतक माना है ।

भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न धर्म का अनुसरण किया जाता है इसलिए धर्म के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं । सियारामशरण गुप्त ने भी अपने काव्य में धर्म के अनेक रूपों की अभिव्यंजना की है ।

हिन्दू-धर्म : हिन्दू-धर्म का प्रतिपादन भारतवर्ष के ऋषि-मुनियों ने किया है । यह एक अत्यन्त उदारवादी धर्म है । इस धर्म के प्रवर्त्तकों ने विश्व कल्याणार्थ अनेक कार्य सम्पन्न किए। हिन्दू धर्म वैदिक, पौराणिक, शाक्त, वैष्णव आदि धर्मों में प्रचलित है । इन सबमें मत वैभिन्न होते हुए भी लक्ष्य की समानता है । इस धर्म का दृष्टिकोण संकुचित न होकर व्यापक है । गुप्त जी हिन्दू थे । उन्होंने हिन्दू धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। धर्म के रूप में ईश्वर की आराधना करते हुए उन्होंने मानव के आत्मिक भाव की अनन्यता को प्रकाशोद्दीप्त किया है:

हे जीवन-स्वामी तुम हमको
जल-सा उज्ज्वल जीवन दो !
हमें सदा जल के समान ही
स्वच्छ और निर्मल मन दो ![53]

लोगों की धार्मिक भावना को बलवती करने के लिए कीर्तन, जुलूस आदि निकालना हिन्दू धर्म का अंग है :

हिन्दुओं का कीर्तन-जुलूस राज-पथ पर
गान-वाद्य कर कर,
जाता था उछाह से ।[54]

ईश्वर भाव के भूखे हैं, भोजन के नहीं यह मान्यता हिन्दू धर्म को बल प्रदान करती है । इसी भावना से प्रेरित होकर भक्तजन भगवान के विभिन्न रूपों की पूजा करते हैं। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करा कर मानव मस्तिष्क को सद्‌गुण सम्पन्न बनाकर विश्व का कल्याण करना ही इस धर्म का उद्देश्य है । कवि इसी धर्म से प्रेरित होकर कहता है :

सभी श्रेष्ठ धर्मों से ऊपर
है अच्छी बातों की छाप ।[55]

धर्म के आचरण से मानव को दूर नहीं भागना चाहिए क्योंकि धर्म के आचरण से ही मानव का कल्याण होता है :

धर्म के पुनीत आचरण से
च्युत हो न मानव भुवन में,
मंगलों का मंगल यही है चिरजीवन में ।[56]

इस्लाम धर्म : इस्लाम धर्म के प्रवर्तक पैगम्बर मुहम्मद थे । इस धर्म का प्रादुर्भाव अरब में हुआ :

श्रम सफल है पहुँचकर उस भूमि पर
विचरते हजरत मुहम्मद है जहाँ ।
वह अरब वसुधा जिसे निज सीस पर
नीरनिधि ऊँची किये भुज युग उठा[57]

पैगम्बर मुहम्मद ने कहा ईश्वर एक है । उन्होंने ईश्वर के सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, करुणामय, निराकार आदि रूप का वर्णन किया है । साथ ही उन्होंने परस्पर विरोध, लड़ाई आदि भावों को भुलाकर बन्धु भाव से रहने के लिए प्रेरित किया है :

स्थापना है भातृभावी धर्म की,

सर्वहितकर यह अमल अभिनिष्क्रमण

चल चुका हिजरी सुयश संवत् नया,

काल की गणना चली फिर 'एक' से ।[58]

गुप्त जी ने इस्लाम धर्म की विशेषता पर भी प्रकाश डाला है :

मुसलमान ईमान समझकर

आये का आदर करता ।[59]

दीन-दुःखियों की रक्षा करना ही इस धर्म का एक सबक है । इस सबक का प्रत्येक मुसलमान आदर करता है और समय पड़ने पर अपना धर्म समझकर दीन-दुःखियों की रक्षा करता है :

उस परवरदिगार के आगे

जाऊँगा जिस दिन जब भी,

यह मुँह दिखा सकूँगा उसको

यही हँसी ले इन सबकी ।[60]

संयम, परोपकार, निर्लोभता, क्षमा आदि इस धर्म के नैतिक सिद्धान्त हैं । दिन में पाँच बार नमाज, प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक नमाज, रमजान के महीने में रोजा और मक्का की तीर्थ-यात्रा (हज) आदि इस धर्म के प्रमुख कर्म हैं :

तीर्थ यात्रा कर रहा सप्रेम जो,

सफल रम उसका यहाँ इस भूमि पर

विचरते हजरत मुहम्मद हैं जहाँ ।

जन्मस्थल मक्का मगर उनका यही ।[61]

इस धर्म में भी अवतारवाद, मूर्ति-पूजा तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव का घोर

विरोध किया गया है । गुप्त जी ने इस्लाम धर्म की इन सभी विशेषताओं को भारतीय परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त किया है ।

ईसाई धर्म : ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव प्राचीन फिलस्तीन में हुआ । इसके संस्थापक महात्मा ईसा हैं । प्रेम, करुणा, मानव-सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार इस धर्म के सिद्धान्त हैं । ईसाई धर्म का पवित्र ग्रंथ है - 'बाइबल' । गुप्त जी ने 'अमृत-पुत्र' काव्य की रचना करके ईसाई धर्म की अभिव्यंजना की है । उन्होंने ईसा-मसीह की देदीप्यमान आभा का वर्णन इस प्रकार किया है :

कूप की इस जगत पर बैठा हुआ
एक ही है पुरुष निस्संदेह वह,
दूर तक कोई द्वितीय नहीं यहाँ
स्फटिक गौर सतेज मुख-मण्डल रुचिर
दीखता है दमकता रवि ताप में,
आतपालेपन विभूषण है उसे ।[62]

ईसु के लिए कोई पवित्र और अपवित्र नहीं है । जो लोग दर्प के कारण समारा प्रान्त के लोगों को अपवित्र मानते हैं ईसु अपने शिष्यों को उनके यहाँ जाने का आदेश देते हैं । जो निर्धनों का शोषण करता है उसे यह धर्म मनुज के वेश में भेड़िया ही मानता है।[63] जो कोई धर्म, राष्ट्र तथा शास्त्र का अपमान करता है उसे उचित दंड देना चाहिए ऐसी ईसाई धर्म की मान्यता है :

धर्म का निज शास्त्र का निज राज्य का
कर रहा जो द्रोह सबके बीच यों
क्रूस ही उसका यथोचित दण्ड है,
प्रबल इन धर्मध्वजों के न्याय में ।[64]

ऊँच-नीच, धनी-निर्धन सभी को यह धर्म समान मानता है। सभी एक ही प्रभु की सन्तान हैं:

उच्च-नीच-धनी-दरिद्र समान हैं ।
अनुभवूँगा, बन्धु हैं सम्पूर्ण जन,
एक से - हैं प्रभु पिता के पुत्र सब ।[65]

'अमृत-पुत्र' के अतिरिक्त गुप्त जी ने 'आत्मोत्सर्ग' काव्य में भी ईसाई धर्म का वर्णन करते हुए कहा है - ईसा के आदर्शों के कारण ईसा को नमस्कार कर सकते हैं लेकिन ईसाई नहीं बन सकते :

ईसा को प्रणाम, पर होना
होगा हमें न ईसाई[66]

इस प्रकार गुप्त जी ने ईसाई धर्म के सर्व-कल्याणकारी रूप का विशद् वर्णन किया है।

बौद्ध-धर्म : भारतवर्ष में इस धर्म का बीजारोपण सिद्धार्थ द्वारा हुआ । उन्होंने 29 वर्ष की आयु में सम्पूर्ण राज्य का त्याग कर 35 वर्ष की आयु में ज्ञान प्राप्त करके इस धर्म को प्रतिस्थापित किया :

शाक्य वह, सिद्धार्थ वह, अमिताभ वह,
सुचिर ज्योतिर्मय रुचिर तारुण्य से ।[67]

उन्होंने इस धर्म की स्थापना से पूर्व विभिन्न दुःखों और कष्टों को सहन करते हुए घोर तप किया :

दूर जाकर हिंस्र-शंकुल विजन में
झेलकर सब दुःख शरीर पर
उस तथागत श्रेष्ठ मानव ने किए
घोर जप-तप व्रत अनेकों वर्ष के ।[68]

इस धर्म के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्वकल्याण, गुरुजन आदि का

समर्थन किया गया तथा जाति-पाति, अंधविश्वास आदि का खण्डन किया । कवि बौद्ध धर्म की अहिंसा-वृत्ति से बहुत प्रभावित था । वह औरों को भी प्रेरित करते हुए कहता है :

पश्चिम पोत चुका मस्तक पर
अपने प्रभु ईसा का रक्त ;
पर तुम अपने बुद्धदेव के
रहो अखण्ड अहिंसक भक्त ।[69]

अशोक जैसे सम्राट ने भी इस धर्म का समर्थन किया तथा इसके प्रचार एवं प्रसार में योगदान दिया :

गूँजा इस आसेतु धरा में जिसका एक श्लोक,
तेरी ही करुणा-मैत्री का था वह अतुल अशोक ।[70]

बौद्ध-धर्म का मूल उद्देश्य मानव-कल्याण तथा उसका समग्र उन्नयन है । आज भी बुद्ध के वचन भारत में ही नहीं विश्वभर में गुंजायमान हैं :

तेरे बोधि-वचन अंकित हैं जन-जन में अद्यापि,
अनल अनल से, वैर वैर से बुझता नहीं कदापि ।[71]

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने काव्य में बौद्ध-धर्म के कल्याणकारी रूप को दर्शाया है ।

वस्तुतः धर्म स्वयं और संसार के प्रति कर्त्तव्य-भावना का नाम है, जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक दो प्रकार का है । यह व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की संहिता है, जो उसके कार्यों को परिभाषित और संयमित करती है । इसी से लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति मानी गई है । सभी धर्मों का एक लक्ष्य परम-तत्त्व की प्राप्ति है इसी को आधार

बनाकर गुप्त जी ने अपने काव्य में विभिन्न धर्मों का वर्णन कर धर्म के उदात्त रूप की प्रतिष्ठा की है ।

6. घ निष्ठा :

'नि' उपसर्ग पूर्वक 'स्था' धातु में क + अ प्रत्यय के संयोग से 'निष्ठा' शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है - आस्था, निश्चय, दृढ़ता, स्थिरता आदि ।[72] श्रद्धा और भक्ति के अर्थ में भी निष्ठा शब्द का प्रयोग किया जाता है ।[73] समर्पित भाव को भी निष्ठा कहते हैं । यथा -- धर्मनिष्ठा -- धर्म के प्रति अत्यधिक लगाव ; कर्त्तव्य निष्ठा - कर्त्तव्य के प्रति समर्पित । निष्ठा मानव जीवन का आधार है । आधार के बिना आधेय रह नहीं सकता । आधेय को संभालने के लिए आधार सशक्त, स्वच्छ और सुन्दर होना चाहिए।

सियारामशरण गुप्त निष्ठावान कवि हैं । उनकी ईश्वर के प्रति, धर्म के प्रति, देश के प्रति, पूज्य जनों के प्रति जड़ चेतन के प्रति निष्ठा के स्वर सम्पूर्ण काव्य में परिलक्ष्य हैं । 'निष्ठा' मानव के आध्यात्मिक मूल्य के रूप में जाना जाता है । इस मूल्य के द्वारा मानव दुष्कर कार्य को भी आसानी से कर सकता है । ज्ञान, कर्म तथा धर्म द्वारा इसको बल प्राप्त होता है । अध्यात्म का ज्ञान भी निष्ठा द्वारा ही होता है। मानव की प्रभु के प्रति इतनी निष्ठा होनी चाहिए कि यदि वह दास भी बने तो उस प्रभु का ही दास बने। अपनी दीनता प्रकट करने के लिए वह किसी और के द्वार न जाकर ईश्वर के ही द्वार जाये ।[74] वह ईश हम पर क्रोध भी करे तो उसे सहर्ष स्वीकार लें तथा सुख में भी उसे न बिसारें :

यदि कभी हम पर करो तुम क्रोध का व्यवहार,
भक्ति पूर्वक तो सदा वह हो हमें स्वीकार ।
यदि कभी हमको मिले आनन्द-हर्ष अपार,

भूल कर भी तो प्रभो ! हम तुम्हें दे न बिसार ।[75]

निष्ठावान व्यक्ति मृत्यु से भी नहीं डरता । वह निडर होकर कहता है :

अमर हूँ मैं ओ काल कराल
कर सकेगा तू क्या मेरा,
रहूँगा जीवित मैं चिरकाल
व्यर्थ यह भ्रू-कुंचन तेरा ।[76]

वह अपने द्वारा किए गए दुराचारों एवं अपराधों का दण्ड भी ईश्वर से ही चाहता है :

हो अपराध भूलकर भी जब हमसे किसी प्रकार
निर्दय बनकर हमें दण्ड तब दो हे करुणागार ।
परंपिता ! हम हो जावें जब दुराचरण के दास,
निर्दय बनकर हमें शास्ति दो तज वात्सल्य विकास ।[77]

सियारामशरण गुप्त की महापुरुषों के प्रति अगाध निष्ठा थी । महापुरुषों के जीवन से वे पूर्णतः प्रभावित थे । उनकी इस निष्ठा के दर्शन हम उन महापुरुषों को समर्पित कर लिखी गई कविताओं में करते हैं । वे गोस्वामी तुलसीदास को अपना प्रेरक मानते हैं क्योंकि उनके 'रामचरितमानस' ने सम्पूर्ण मानव जाति को इस संसार से मुक्त होने का राम-मन्त्र सिखलाया है :

अब भी हृदय हरित है उसके सुकृत-सुधा-सिंचन से
हे सुकवे सुकृतार्थ हुए हम तब सत्कृति-कीर्तन से।
X X X X
अन्तर्बाह्य-प्रकाशक तुमने दिव्य-दीप दिखलाया,
तुमने हमें मुक्त होने का राम-मन्त्र सिखलाया ।[78]

तुलसीदास का 'रामचरितमानस' ऐसे अमृत के समान है जिसका पान कितनी ही बार क्यों न किया जाए फिर भी मन अतृप्त ही रहता है :

बार-बार पीते हैं, पर यह अतुल अमृत है कैसा
इसके लिए तृषातुर यह मन है जैसे का तैसा ।[79]

गणेश शंकर विद्यार्थी की देश के प्रति तथा असहायों के प्रति समर्पित निष्ठा को अवलोक कर कवि स्वयं प्रेरित होकर कहता है :

सुनो भाइयों, बहनों, माओं, है गणेश शंकर जब तक
देखें कौन उठा सकता है उँगली तुम पर तब तक ।[80]

महात्मा गाँधी की कर्त्तव्य-निष्ठा तथा उदार स्वभाव को देखकर गुप्त जी ने गाँधी जी को आत्म-रथ के श्रेष्ठ रथी के रूप में अवलोका है जो अनन्त काल के पथ का यात्री है :

पर को स्वकीय कर लेने की,
निज को विकीर्ण कर देने की
नीचे और ऊपर दिशाओं-विदिशाओं में,
तामस निशाओं में ।
श्रेष्ठ रथि, तुम हे अरूद्ध आत्मरथ के,
यात्री हो अनन्त कालपथ के ।[81]

'समारा' प्रान्त के लोग 'ईसा-मसीह' की ईश्वर-निष्ठा को देखकर उनके समक्ष नत मस्तक हो जाते हैं । सियारामशरण गुप्त ने 'ईसा-मसीह' को ईश्वर का ही पर्याय माना है । ईश्वर के समारा प्रान्त में पर्दापण के साथ ही वहाँ की हीनता समाप्त हो जाती है :

तब कृत्य-कृत्य छोटा गाँव वह

ईसु के पावन पदार्पण से हुआ ।

न्योत सादर ले गए सब वे उन्हें,

हीनता निज अब यहाँ सबको खली ।

X X X

दीन हैं निश्चय घृणा के पात्र हम

ज्योति बरसाकर मधुर मुस्कान की !

ग्लानि वह उनकी बहा दी ईसु ने।[82]

गुप्त जी ईसा मसीह से इतने प्रभावित हैं कि वे स्वयं ईसु के मुख से कहलवाते हैं :

ज्योति हूँ मैं इस जगत की ज्योति हूँ,

भय नहीं मुझको किसी का भय नहीं।[83]

श्रीकृष्ण की पुण्य-स्थली ब्रजभूमि के प्रति भी गुप्त जी की अगाध निष्ठा है क्योंकि यह वही भूमि है जहाँ श्रीकृष्ण की चरण धूलि अब तक विद्यमान है :

अमित गुण गाथा धरा की व्योम में किससे सुनी,

अनल तुन-तुन तपन ने जिसकी किरण चादर बुनी,

भर भुजाओं में तिमिर को चाँदनी है चौगुनी

चल सुरभि सिरभि सिक्त दुकुल री !

यह इस गली की धूल री ।[84]

उनकी राम के प्रति भी अगाध निष्ठा है । राम की शरण में जाने वाले के सभी दुःख और संताप समाप्त हो जाते हैं :

अनख अलसभाव और कुभाव में

तुम अपार अनन्त वृत्त अनन्त हरि,

सर्वदा सर्वत्र सबके साध्य हो ।[85]

सियारामशरण गुप्त को अपनी वसुन्धरा से बहुत लगाव है । उन्होंने पृथ्वी में अपनी माता के ही दर्शन किए हैं । यह माँ सबका पालन-पोषण उदार भाव से करती है :

चिर प्रसन्न वसुन्धरा यह
मग्न हैं इसकी प्रसारित गोद में ।
देव की-सी वह सुमाता
है कहाँ जो जन्म देकर ही रही ?
मातृमूर्ति उदार हृदया
तू हमारी धात्रि है मृण्मयी मही ।[86]

इस प्रकार निष्ठा के व्यापक रूप का चित्रण गुप्त जी ने अपने काव्य में किया है।

6. ङ साधना :

साधना शब्द की निष्पत्ति सिध् + णिच् + यच् + टाप् के संयोग से हुई है।[87] जिसका अर्थ है - किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला प्रयास, उपाय, तपस्या, पूजा, अर्चना आदि ।[88] आध्यात्मिक दृष्टि से साधना का अर्थ तप से भी लगाया जाता है । साधना का अर्थ है - द्वन्द्वों को सहना, सरदी-गरमी, भूख-प्यास, हानि-लाभ, जीवन-मरण में सम रहते हुए भयंकर आपत्तियों और विपत्तियों का सामना करते हुए भी धर्म की रक्षा करना । सम्पूर्ण संसार में ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं जिन्होंने कठिन से कठिन साधना करके अपने-अपने क्षेत्रों में उन्नति की है । कई महामानव तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने साधना के बल पर सत्य के वास्तविक रूप को जाना तथा ईश्वर से तादात्म्य स्थापित किया । चाणक्य ने साधना की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है :

यद्दूरं यद्दूराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् ।

तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ।[89]

जो बहुत दूर है, जिसकी आराधना करना दुष्कर है, जो अत्यन्त ऊँचाई पर विद्यमान है, वह सब तप के द्वारा सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तप अत्यन्त प्रबल होता है । इसी साधना से कठिन से कठिन कार्य सहज बन जाते हैं । साधना से मृत्यु पर भी विजय पाई जा सकती है । साधना के बल पर मानव अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करते हुए पाप को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल तथा पवित्र बनाता है । जिस प्रकार आग में बार-बार तपाने के बाद ही सोने को जैसा चाहो वैसा आकार दिया जा सकता है, उसी प्रकार मानव जीवन को विशेष आकार देने की सामर्थ्य साधना से प्राप्त होती है । मनु के अनुसार :

यद् दुस्तरं दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्व तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ।।[90]

जो दुस्तर (कठिनता से पार होने योग्य) है, जो दुराप (कठिनता से प्राप्त होने योग्य) है, जो दुर्गम (कठिनता से चढ़ने योग्य) है, जो दुष्कर (कठिनता से करने योग्य) है, वह सब तप से सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तप से कुछ भी असाध्य नहीं है । अतः साधना द्वारा असाध्य को भी साध्य किया जा सकता है ।

सियारामशरण गुप्त उच्च कोटि के साधक कवि हैं । उनका सम्पूर्ण काव्य उनकी साधना का ही प्रतिफल है । उनके सम्पूर्ण काव्य में विशुद्ध साधना परिलक्षित होती है । साधना करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है :

दुर्लभ विधान यह ऐसा ही विहित है
देव, यह योग अति अद्‌भुत है ।[91]

सृष्टि भी विश्वकर्मा की साधना का फल है तथा प्रकृति का सुन्दर रूप भी

साधना का प्रतिफल है :

शिल्पी विश्वकर्मा ने इसी के लिए
उतना किया था श्रम
निश्चय ही वह है अपूर्व और अनुपम ।
किन्तु श्रमसाध्य यह कृति है ;
इसको असंख्य काल में स्वतः
साधना तपस्यारत ।
प्राप्त कर पाई इस रूप में प्रकृति है ।[92]

गुप्त जी कहते हैं मार्ग कितना ही कठिन और दुर्गम क्यों न हो उसे एक साधक अपनी साधना तथा दृढ़ निश्चय द्वारा सुगम बना लेता है :

कड़ी दोपहरी का वह ताप
वारि का पावक बनना आप
दिशाओं का वह हाहाकार
ज्वलित मारुत का क्रुद्धालाप
तुम्हारे लिए हुआ निस्सार ।[93]

कवि ने 'बापू' को सच्चा साधक माना है । बापू ने अपनी साधना से हरिश्चन्द्र की अटलता, प्रह्लाद की भक्ति, भीष्म का ब्रह्मचर्य, बुद्ध की परमार्थ सेवा, ईसा का नर-अनुराग, महावीर की अहिंसा, मुहम्मद की दृढ़ता, तुलसी की निपुणता, नरसी का पीर-हरण, टाल्सटाय की धैर्यता आदि को प्राप्त कर लिया है :

प्राप्त इसे दूर के अतल से
सत्य-हरिश्चन्द्र की अटलता ;

लब्ध इसे तारा - गृह मंडल से

श्री प्रह्लाद की अनन्त भक्ति - समुज्ज्वलता;

X X X

भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता

प्राप्त इसे, स्वेच्छा मृत्युवरता ;

बुद्ध से मिला है परमार्थ-भाग,

ईसा से नरानुराग

हिंसा-त्याग धीर महावीर-से वरद से,

दृढ़ता मुहम्मद से ;

धौत तुलसी के मानसर से,

लाया है पराई पीर नरसी के घर से,

टाल्सटाय से अधीत

प्रेम-प्रतिरोध का समर-गीत ।[94]

ईसा-मसीह की साधना सबके लिए अनुकरणीय है । साधना की भट्टी में तपकर ही वे महान साधक बने थे । अपनी साधना के बल पर उन्होंने रोग, दुःख, भय, पीड़ा, कलह आदि सभी पर विजय प्राप्त कर ली थी :

कलह विग्रह रोग पीड़ा दुःख भय

सिद्धि बल से टालता है वह सभी ।

X X X

चित्त के उन्नत शिखर पर रात-दिन

अडिग रह उसने विविध तप हैं तपे,

सुदृढ़ उसके व्रत-नियम-उपवास हैं

नत उसे शैतान कर पाया नहीं ।[95]

साधना के बल पर मानव लौकिक धरातल से ऊपर उठकर अलौकिकता को प्राप्त करता है । अतः सियारामशरण गुप्त के काव्य में साधना का उत्कृष्ट रूप वर्णित है।

6. च सहिष्णुता :

सहिष्णु + तल् + टाप् के संयोग से सहिष्णुता शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है -- वहन करने की शक्ति, सहारा देने की शक्ति।[96] शीत, उष्ण, द्वन्द्व तथा विपरीत परिस्थितियों में भी समभाव रूप से टिका रहना ही सहिष्णुता है । यह मानव का आन्तरिक गुण है । इसी गुण के कारण विषम स्थितियों का सामना भी मानव हँसते-हँसते करता है। सहिष्णुता वह शक्ति है जिसके कारण मानव असाध्य को भी साध्य बना देता है। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, मानव निर्मित अथवा दैवयोग से प्राप्त किसी भी प्रकार के संकटों की वर्षा होने पर भी जो शक्ति मानव को विचलित होने से बचाती है तथा उसकी बुद्धि को स्थिर रखती है, उसी को सहिष्णुता कहते हैं। यह आन्तरिक शक्ति शरीर व इन्द्रियों की थकावट को दूर कर उनमें नई प्रेरणा व नया उत्साह भरकर कर्म-प्रवृत्त करती है । यह मानव की सफलता रूपी उत्तुंग मंदिर की नींव है ।

कवि सियारामशरण गुप्त सहिष्णु व्यक्ति थे । उन्होंने सहिष्णुता का पाठ महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, ईसा मसीह, पैगम्बर मुहम्मद, गौतम बुद्ध, विनोवा भावे, गणेश शंकर विद्यार्थी, तुलसीदास आदि महामानवों से सीखा, जिन्होंने विषम परिस्थितियों में भी अपने धर्म की रक्षा की । उनके जीवन में अनेक कष्टप्रद घटनाएँ घटीं । यथा - बच्चों की अकाल मृत्यु, पत्नी की मृत्यु तथा अन्त में पाँच वर्षीय एकमात्र पुत्री उर्मिला की हृदय गति रुकने से हुई मृत्यु । इन सबको देखकर भी उन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया ।

अतः सहिष्णुता ने ही उन्हें वह शक्ति प्रदान की, जिसके कारण वे अनेक वर्षों तक काव्य-साधना करते रहे तथा अपने काव्य द्वारा सहिष्णु बनने की प्रेरणा भी देते रहे । महात्मा गाँधी के धैर्य को देखकर कवि उन्हीं से पूछता है :

ज्ञान-गरिमा विशिष्ट
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वी, नित्य एकनिष्ठ ?
x x x
कम्पन्न-विभीति तुम्हें एक भी न झलकी ।
निर्बल का कौन बल धारे-से,
तुम हो वहीं के वहीं किसके सहारे से ।[97]

सहिष्णु मानव चिन्ता, दुःख आदि से दूर रहते हैं । वे तो हर्ष का संचार करते हैं :

चिन्ता की क्या बात सखे, यदि
हूँ मैं पूरा वर्ष ;
लौट पड़ूँगा क्षण भर में ही मैं
ले नूतन का हर्ष ।[98]

कष्ट सहन करते हुए भी दूसरों की रक्षा में लगे रहने वाले वीर को कवि ने सरस-वसन्त के रूप में अवलोका है जो पुनः पुनः मृत्यु के समीप जाकर भी सबकी रक्षा करता है :

अहो तरुण, हिम-ताप-वृष्टि सब सहकर भी द्युतिमन्त,
प्राचीना पृथिवी के यौवन हो तुम सरस-वसन्त ।
महाकाल के नव नव रस को पी-पीकर बहु बार,
पाया तुमने अपने में नवस्फूर्ति-संचार ।[99]

पर्वत की सहिष्णुता को विलोक कर कवि कहता है चाहे कितने ही बड़े तूफान व झंझावत आ जायें लेकिन तू अविचल है । अपने अन्दर की असहिष्णुता को मैं कैसे दूर करूँ यह तू ही बता सकता है :

हूँ शत-शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल
मैं तनिक-तनिक में चिर चंचल ;
मेटूँ कैसे यह अन्तराय ! तू गौरव-गिरि, उत्तुंग काय।[100]

हिन्दू-मुस्लिम दंगों के बीच में फँसे हुए गणेश शंकर विद्यार्थी को देख कवि उनके सहिष्णुता पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाता है । कानपुर के हिंसाग्रस्त इलाकों में जाकर विद्यार्थी जी ने असंख्य निर्दोष लोगों के प्राण बचाये थे । भीषण मार-काट के बीच भी वे धैर्य धारण कर मानव-रक्षा कर रहे थे :

काम अभी बाकी था उनका, अब विद्यार्थी जी की ओर
करते हुए शोर दौड़े वे क्रूद्ध भाव से क्रूर कठोर ।
डोल उठी नीचे पृथ्वी-सी काँप उठा ऊपर आकाश,
ज्योति-स्तंभ-तुल्य अविचल ही खड़े रहे वे पुण्य प्रकाश ।[101]

गुप्त जी ने तुलसीदास को भी एक धैर्यवान महामानव माना है । जिसने स्वयं कष्ट उठाकर, निर्जन कुटी और नदी-नालों के तट पर बैठ 'रामचरितमानस' जैसा महाकाव्य लिखा, जो आज भी लोगों को प्रेम और भक्ति का पाठ सिखाता है :

रम्य रामचरितामृत से यह मानस तुमने भर कर,
किया पुनीत प्रेममय इसको पाप-ताप सब हर कर ।
बैठ एक निर्जन कुटीर में सुर सरिता के तट पर

भक्ति-तत्व लिख गए असंख्यक मनुजों के हृत्पट पर ।[102]

गुप्त जी के काव्य में ईसा-मसीह भी सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति के रूप में वर्णित हैं। जिन्होंने लोगों के दुर्व्यवहार, दुर्वचन, उत्पीड़न यहाँ तक की क्रूस के भार को भी सरलता से वहन कर लिया था :

यह प्रपीड़न, यह प्रकोप, प्रहार यह,
भीड़ का औद्धत्य, उसके दुर्वचन,
ईसु सब कुछ सह रहे हैं मौन रह
शुद्ध चेतन रूप क्या तनु मुक्त ये ?
कुछ इन्हें छिदता नहीं, गड़ता नहीं ?[103]

मानवता के त्राण हेतु महात्मा-बुद्ध ने भी अनेक कष्ट सहे । सुख-दुख में भी समान रहकर घोर जप तप करके उस महापुरुष ने सत्य का ज्ञान पाया सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान-दर्शन कराया तथा लोगों को उपदेश दिया :

भय न कर मानव अरे तू भय न कर
भाती तुझको नहीं है मृत्यु वह ।[104]

'कविदेव' नामक कविता में कवि ने रवीन्द्रनाथ टैगोर के चरित्र का उद्‌घाटन किया है । उनकी चारित्रिक विशेषताओं में सहिष्णुता को प्रमुख मानते हुए गुप्त जी कहते हैं:

तुम हे ज्योतिर्देव, अगोचर हुए गगन में ।
रहे एक-से दीप्त आगमन और गमन में ।
तुल्य भाव से लिए अर्घ्य-अंजलि के अर्पण ।[105]

विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए भी जवाहरलाल नेहरू ने देश की आजादी को चाहा। इस आजादी को प्राप्त करने में कितने ही कष्टों का सामना करना पड़ा लेकिन ये रणबाँकुरे पीछे नहीं हटे । देश के प्रति समर्पित जवानों तथा नेहरू को सम्बोधित करते हुए गुप्त जी कहते हैं :

तुम जनगण के मंगल यात्री, बढ़े जा रहे अविरत,
आँधी-पानी तिमिर बीच के होंगे सभी पराहत
देख रहे हम यहाँ हृदय के प्रेम-प्रदीप जगाये
मानव, तुम सौ-सौ विघ्नों की जय करते ही आये ।[106]

मानव की ऐसी सहिष्णुता ने मरूस्थल में भी जीवन की ज्योति जगा दी है।[107] वह केवल अमृत का ही अभिलाषी नहीं है आवश्यकता पड़ने पर सहर्ष विषपान भी कर लेता है :

स्वाद सौ-सौ एक ही इस थाल के
अम्ल कटु तीखे कसैले सब लिए
लालसी यह मृदु-मधुर का ही नहीं,
गरल भी इसने पिया आनन्द से ।[108]

मानव जीवन में जो दुःख और असफलता दिखाई देती है, उसका प्रमुख कारण है - असहिष्णुता । आज बहुसंख्य लोग अधीर और उतावले बने हुए हैं । सुख, आनन्द, यश, कीर्ति, ऐश्वर्य, अधिकार, विविध विधा और कलाओं में सभी पारंगत होना चाहते हैं । वह भी शीघ्र और बिना परिश्रम किए । परन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि विद्या, कला अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए वर्षों तक परिश्रम किया जाता है । परिश्रम करते हुए दुःख और कष्ट तो आते ही हैं । जो उन्हें स्वीकार कर बढ़ते जाते हैं वे

सफल होते हैं और जो उन दुःखों के आगे घुटने टेक देते हैं वे असफल हो जाते हैं । अतः मानव जीवन की सर्वांगीण उन्नति के लिए सहिष्णुता रूपी मूल्य अति आवश्यक है क्योंकि सहिष्णु व्यक्ति हमेशा अटल होते हैं और अन्त में उन्हीं की विजय होती है तथा विजय को देख सभी विस्मित होते हैं :

धन्य तू धरणि हमारी
हुई अर्द्ध उच्छिन्न, नहीं तब भी तू हारी ।
हारेगी तू नहीं, अन्त है तेरी जय में ;
विस्मित है सब विश्व अटल तेरे निश्चय में ।[109]

इस प्रकार गुप्त जी अपने सम्पूर्ण काव्य द्वारा मानव को सहिष्णु बनने का आह्वान करते हुए दिखलाई देते हैं ।

6. छ समर्पण :

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अर्प' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से समर्पण शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है -- देना, हस्तांतरण करना, सौंपना आदि ।[110] मानवीय चेतना यथार्थ और आदर्श के विशुद्ध रूप का साक्षात्कार करती हुई पूर्णता की ओर उन्मुख रही है जिसके द्वारा वह आत्यन्तिक तृप्ति प्राप्त करता है । इस तृप्ति को प्राप्त करने के लिए मानव को समस्त सांसारिक बंधन को ईश्वर के चरणों में अर्पित करना पड़ता है, तभी वह ईश्वर प्राप्ति कर सकता है। इस स्वार्थ रहित त्याग-वृत्ति को ही समर्पण कहते हैं । कवि सियारामशरण गुप्त का सम्पूर्ण काव्य समर्पण का अक्षय कोश है । भक्त का भगवान के प्रति, छोटों का बड़ों के प्रति, बड़ो का छोटों के प्रति, मानव का मानव के प्रति तथा वीरों का देश के प्रति समर्पण ।

मानव अपना एकमात्र अवलम्ब परमात्मा को ही मानता है । वह जब संसार के बंधनों के मोह से छूट जाता तब अपने जीवन को ईश्वर को ही समर्पित कर देता है :

हारे सभी भाँति हम, तब तो तुम्हारे बिना
झूठे ज्ञात होते और सब के सहारे हैं ।
और क्या कहें अहो । डुबा दो या लगा दो पार
चाहे जो करो शरण्य । शरण तुम्हारे हैं ।[111]

ईश्वर को समर्पित करने के लिए मानव अपनी उदात्त भावनाओं के साथ उसके समक्ष उपस्थित होता है । छोटी और तुच्छ वस्तुओं का समर्पण करते हुए वह संकोच करता है लेकिन संतोष प्राप्ति-हेतु क्षमा-याचना करते हुए भी अन्तःकरण के भावों को समर्पित करता है:

करो नाथ, स्वीकार आज इस हृदय-कुसुम को,
करें और क्या भेंट राजराजेश्वर, तुमको ?
सौरभ की है कमी, कहाँ पर उसको पावें ?
X X X
नहीं आपके योग्य भेंट यह ध्रुव निश्चय है,
पर जैसी है आज वही सम्मुख सविनय है ।[112]

मानव को जब इस संसार की नश्वरता का बोध हो जाता है तब वह स्वेच्छा से त्याग-वृत्ति अपनाकर अपना सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है । अशोक जैसे महान सम्राट को जब यह भान हुआ कि इस संसार से सभी को खाली हाथ जाना है तब उन्होंने ईश्वर को साक्षी मानकर सब कुछ समर्पित कर दिया :

प्राप्त करना था जिसे मैं पा चुका,

पा चुका हूँ नेत्र की इस सीम में

यह अलक्षित नीर निर्मल-अश्रुकण ।

वारता हूँ आज की सारी विजय

आज तक इस जन्म की परजन्म की

विजय-गरिमाएँ निछावर हैं सभी ।[113]

अपने अन्तिम समय में ईसा-मसीह ने स्वयं को प्रभु को समर्पित कर दिया था :

वचन उनके उच्च अन्तिम थे यही

सौंपता हूँ आप अपने को तुझे,

चरण-तल में हूँ समर्पित हे पिता ।[114]

मानव जीवन का प्रकाश देने वाले सूर्य देवता को भी अपने भावों का समर्पण करते हए अर्घ्य देता है :

दूर पश्चिम के प्रवासी सूर्य को

हाथ जो ये वह शुभांजलि दे चुके

लो उन्हीं से अर्घ्य तुम यह आज का

अरुण वेला में अरुण रवि आज के ।

तुम गगनचारी हमारी भूमि के

क्षितिज प्रांगण में अहो ये उग रहे

प्रणति लो यह आत्म गौरव-लब्ध की ।[115]

धर्मराज युधिष्ठिर कहते हैं समर्पण द्वारा ही धर्म और धन का संरक्षण किया जा सकता है जो मानव बड़ों के साथ-साथ छोटों के प्रति भी समर्पण का भाव रखता है वह

ईश्वर की श्रेष्ठ सन्तान होता है तथा उसके अन्दर जन्म से ही बड़प्पन होता है :

उन्हें दैव ने दिया जन्म के साथ बड़प्पन,
छोटों का प्रतिपल यही उसका जीवन-प्रण ।
छोटो के भी लिए बड़े से बड़ा समर्पण -
किया जाय जब , तभी धर्म-धन का संरक्षण ।[116]

आत्मज्ञानी 'महाकाल' के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है । वह काल अत्यन्त दूर है, पता नहीं मनुज द्वारा समर्पित भाव वहाँ तक पहुँचेगें अथवा नहीं फिर भी उसके सम्मुख सभी नतमस्तक हैं :

सूर्य-चन्द्र समस्त तारक राशियाँ
मौन श्रद्धा के समर्पण हैं जहाँ
चिर पुरातन है, तुम्हारे सामने
दस कि बीस सहस्त्र, वर्ष मनुष्य के ।[117]

निष्कर्षतः मानव ने परमार्थ निष्ठा से प्रेरित होकर एक ऐसा विलक्षण आयाम ढूँढ़ निकाला है जिसे आध्यात्मिक जीवन कहा गया है । यह आध्यात्मिकता जीवन के प्रत्येक पहलू पर मानव को विशिष्ट मूल्य प्रदान करती रही है । अध्यात्म में जिस ज्ञान साधना का महत्त्व है, वह व्यवहारिक नहीं अपितु मनुष्य के चरमोत्कर्ष की साधना है । धर्म में जिस ज्ञान की आवश्यकता समझी गई वह नित्य और सत्य है । धर्म द्वारा साधक निर्वैयक्तिक मूल्यों की खोज करता है, जिसे वह परम श्रेय मानता है । अतः सियारामशरण गुप्त ने आध्यात्मिक मानव-मूल्यों द्वारा ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित कर सम्पूर्ण जगत् को ऐक्य की सीमा में आबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है ।

संदर्भ :

1. प्लेटो के काव्य सिद्धांत : डॉ. निर्मला जैन, पृ. 45
2. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 149
3. ईश्वर की सत्ता एवं महत्ता : सं. हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ. 209
4. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 410
5. चाणक्यनीति दर्पण : भाष्यकार स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 5 / 12
6. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 318
7. वही (खण्ड - 1), पृ. 324
8. वही, पृ. 393
9. वही, पृ. 364
10. वही, पृ. 363
11. वही, पृ. 395
12. वही, पृ. 397
13. वही, पृ. 374
14. वही, पृ. 189
15. वही, पृ. 190
16. वही (खण्ड - 2), पृ. 130
17. वही, पृ. 130
18. वही, पृ. 132
19. वही, पृ. 135
20. वही, पृ. 143
21. वही (खण्ड - 1), पृ. 161
22. श्रीमद्भगवद्गीता, 4 / 33
23. श्रीमद्भगवद्गीता पर शंकराचार्य की टीका : शंकराचार्य, 3 / 20
24. विवेकानन्द साहित्य (तृतीय खण्ड), पृ. 6
25. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।। गीता ।। 2 / 47
26. महाभारत (अनुशासन पर्व), 216 / 13
27. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 414
28. वही, (खण्ड - 1), पृ. 182
29. वही, पृ. 190
30. वही, पृ. 196
31. वही, पृ. 207
32. वही, पृ. 393

33.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 29
34.वही (खण्ड -1), पृ. 370
35.वही, पृ. 182
36.वही (खण्ड - 2), पृ. 309
37.वही (खण्ड - 1), पृ. 304
38.वही, पृ. 336
39.संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 489
40.जैन धर्म - एक संक्षिप्त इतिहास : डॉ. राजेन्द्र मुनि, पृ. 6
41.हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य : डॉ. मोहिनी शर्मा, पृ. 28
42.'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्' - मनुस्मृति, 2 / 6
43.वैशेषिक दर्शन, 1 / 2 / 2
44.महाभारत (अनुशासन पर्व), 115 / 1
45.मनुस्मृति, 1 / 108
46.पूर्वमीमांसा सूत्र, 1 / 1 / 2
47.धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यममक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।
मनुस्मृति, 6 / 92
48.धर्म तुलनात्मक दृष्टि : डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 47
49.आर्य जगत् : सं. पूनम सूरी, अगस्त, 1997, पृ. 5
50.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 69
51.वही, पृ. 331
52.वही, पृ. 387
53.वही (खण्ड - 1), पृ. 185
54.वही, पृ. 119
55.वही, पृ. 223
56.वही, पृ. 339
57.वही (खण्ड - 2), पृ. 333
58.वही, पृ. 335
59.वही, पृ. 58
60.वही, पृ. 56
61वही, पृ. 334
62.वही पृ. 147
63.वही, पृ. 153

64.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 2) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 160
65.वही, पृ.161
66.वही (खण्ड - 1), पृ. 239
67.वही (खण्ड - 2), पृ. 319
68.वही, पृ. 321
69.वही (खण्ड - 1), पृ. 239
70.वही (खण्ड - 2), पृ. 58
71.वही, पृ. 59
72.संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी कोश : सूर्यकान्त, पृ. 320
73.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 544
74.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 180
75.वही, पृ. 177
76.वही, पृ. 198
77.वही, पृ. 178
78.वही, पृ. 193
79.वही, पृ. 194
80.वही, पृ. 239
81.वही, पृ. 400
82.वही (खण्ड - 2), पृ. 149
83.वही, पृ. 158
84.वही, पृ. 239
85.वही, पृ. 336
86.वही, पृ. 342
87.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1095
88.संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी कोश : सूर्यकान्त, पृ. 636
89.चाणक्यनीति दर्पण : भाष्यकार स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, 17 / 3
90.मनुस्मृति, 11 / 238
91.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 342
92.वही, पृ. 343
93.वही, पृ. 217
94.वही, पृ. 417
95.वही (खण्ड - 2), पृ. 157

96.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1092
97.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 399
98.वही, पृ. 322
99.वही, पृ. 317
100.वही, पृ. 266
101.वही, पृ. 251
102.वही, पृ. 194
103.वही (खण्ड - 2), पृ. 165
104.वही, पृ. 321
105.वही, पृ. 358
106.वही, पृ. 412
107.वही, पृ. 316
108.वही, पृ. 316
109.वही (खण्ड - 1), पृ. 466
110.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1175
111.सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड - 1) : सं. ललित शुक्ल, पृ. 179
112.वही, पृ. 177
113.वही (खण्ड - 2) , पृ. 328
114.वही, पृ. 169
115.वही, पृ. 340
116.वही (खण्ड - 1), पृ. 129
117.वही, पृ. 305

उपसंहार

उपसंहार

'मूल्य' शब्द की अवधारणा परिवर्तनशील है । तद्‌युगीन परिस्थितियाँ और विचारधाराएँ ही इसके मूल में रहती हैं । अतः मूल्य वे मान्यताएँ हैं -- जो अपने अन्दर 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की भावना को आत्मसात् किए रहती हैं । मानव स्वभाव से ही आशावादी रहा है, यही कारण है कि उसकी दृष्टि सदैव उपलब्ध से अनुपलब्ध, प्रस्तुत से अप्रस्तुत की सीमाओं से निकलकर नई-नई संभावनाओं को प्राप्त करने में रही है । ये प्राप्तियाँ ही 'मूल्य' हैं जिनमें मानव के सजीव रहने की सार्थकता रहती है । मानव से युक्त मूल्य ही आदर्श रूप धारण करने पर मानव-मूल्य कहलाते हैं । ये 'मानव-मूल्य' मनुष्य को उसकी सीमित वस्तु स्थिति से ऊपर उठाकर उसके जीवन को विकसित करने के लिए गति प्रदान करते हैं । इन मूल्यों के केन्द्र में व्यक्ति की अनुभूति, उसका चिंतन, मानव-कल्याण और सुख की भावना निहित रहती है । इन्हीं मानव-मूल्यों द्वारा ही मानव सत्यात्मक, सौन्दर्यात्मक तथा शिवात्मक अनुभूतियों से मानवीय संस्कृति को अमरत्व प्रदान करते हुए मानव जीवन में मूल्यों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखता है और मानव के विकास की धारा के अजस्त्र प्रवाह को संतुलित रखता है ।

सियारामशरण गुप्त युगीन वातावरण से प्रभावित होते हुए भी मूल्यों के प्रति अति सचेत रहे हैं । वे मानवता के प्रबल पोषक कवि हैं । मानववाद एक ऐसा दर्शन है, जो मानव को केन्द्र में रखकर चलता है । इसका सरोकार मानवीय मूल्यों और उसके कल्याण से है । इसी मानववाद को आधार बनाकर उन्होंने अपने काव्य का प्रणयन किया। साधारण, निरीह, दबे-पिसे और दीन-दुःखियों को अपनी संवेदना का पात्र बनाने वाले सियारामशरण गुप्त सही अर्थों में मानवतावादी कवि हैं ।

हमें जो साहित्य विश्व-दृष्टि प्रदान करता है, समाज को जानने और समझने

की दृष्टि देता है तथा देश-काल से परे एक आदर्श संसार की सृष्टि करता है, वही साहित्य मानव-मूल्यों से सम्बद्ध माना जाता है । ऐसा मूल्यवान साहित्य ही साहित्य होता है । ऐसे ही मूल्यवान साहित्य के रूप में ही अवस्थित है -- वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य एवं हिन्दी साहित्य । इन साहित्यों में वर्णित मानव-मूल्यों के विवेचन के आलोक में यही कहा जा सकता है कि वैदिक काल में आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता रही । लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से ही प्रभावित हुआ । अतः उसमें अध्यात्मिक मूल्यों के साथ-साथ वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों की भी प्रमुखता रही । आदिकालीन काव्य में वीरता तथा श्रृंगार का प्राधान्य रहा तो भक्तिकालीन काव्य में भेदभाव से उत्पन्न संकीर्णता को मूल्यों के माध्यम से एक नई दिशा प्रदान की गई । रीतिकालीन साहित्य में तदयुगीन सामंती मनोवृत्ति तथा काव्यशास्त्रीय मूल्यों को अभिव्यक्त किया गया तो आधुनिक काल में साहित्यकार धीरे-धीरे जन-जीवन के निकट आए और वैयक्तिक, धार्मिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में मूल्य स्थापना के प्रयास हुए । इस प्रकार साहित्य के गर्भ में मानव-मूल्य समाहित होते हैं और यहीं से जीवन-रस लेकर साहित्य पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है ।

कवि सियारामशरण गुप्त ने भी मूल्यों के विघटन को अवलोका था । उन्होंने अपने काव्य का प्रणयन भी मूल्यों के संक्रमण कालीन युग में किया । अतः उनके काव्य में मूल्यों के प्रति उदार दृष्टिकोण परिलक्ष्य है । गुप्त जी के सम्पूर्ण चिंतन का आधार अनुभव है । उन्हें यही अनुभव कभी आत्म-संघर्ष की तो कभी आत्म-विश्लेषण की स्थिति में ले जाता है । वास्तव में, यही आत्म-विश्लेषण और आत्म-साक्षात्कार मूल्यों का बहुत बड़ा आधार है । कवि अपनी आत्म-विश्लेषित दृष्टि से अपनी पहचान कर सम्पूर्ण समष्टि को अवलोकित करता है । 'स्व' की पहचान से ही 'पर' की पहचान संभव है इसलिए वैयक्तिक मूल्यों के धरातल को जाने बिना सामाजिक मूल्यों की पहचान संभव नहीं है ।

वैयक्तिक मूल्यों द्वारा ही व्यक्ति की निजी रुचि, धारणा, आकांक्षा तथा आसक्ति को पुष्ट किया जा सकता है । अतः वैयक्तिक गुण ही वैयक्तिक मूल्यों के रूप में जाने जाते हैं। वैयक्तिक मानव-मूल्य मानव नामवाची प्राणी के लिए अत्यावश्यक हैं । इन मूल्यों के आधार पर जीवन-यापन करने से मानव त्रिविध दुःखों से (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) विमुक्त हो जाता है । इन गुणों के अभाव में बाह्य रूप मानवीय होने पर भी वह मानव नहीं रहता । इन्हीं उदात्त मूल्यों की संपुष्टि गुप्त जी के काव्य में हुई है ।

वैयक्तिक मूल्यों की परिणति सामाजिक मूल्यों में ही संभव है क्योंकि व्यक्तिगत रूप से मानव समाज में जीता है, उससे जुड़ा होता है तथा सक्रिय रूप में समाज को गति देता चलता है । समाज से पृथक् होकर उसकी सक्रियता शून्य हो जाती है । अतः मानव अपनी सृजनात्मकता का समर्पण समाज के प्रति करता है और उसकी परम्परा को ग्रहण करता हुआ आगे परम्परा के लिए कुछ छोड़ता चलता है । समाज और व्यक्ति की अन्योन्याश्रिता के कारण ही व्यक्ति समूह के क्रिया-कलापों एवं बौद्धिक चिन्तन का संश्लिष्ट रूप समाज में अभिग्राह्य होता है । मानव और समाज के ये ही अविच्छिन्न सम्बंध सामाजिक मूल्यों की सृष्टि करते हैं ।

कवि सियारामशरण गुप्त के काव्य में सामाजिक मूल्यों के रूप में पारिवारिक मूल्य, नैतिक मूल्य एवं सांस्कृतिक मूल्यों की विशद् अभिव्यक्ति हुई है । समाज में रहते हुए मानव का प्रथम संसर्ग परिवार से होता है । अतः पारिवारिक मूल्यों के रूप में एक आदर्श परिवार की स्थापना करना मानव जीवन का विशिष्ट मूल्य है । नैतिक मूल्यों का आधार भी मानव है क्योंकि मानव के विशिष्ट गुण ही नैतिक मूल्य हैं । नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा गुप्त जी ने समाज को नई दिशा देने की चेष्टा की है । ये नैतिक मूल्य लक्ष्य-सिद्धि में तो सहायक हैं हीं साथ ही सामाजिक विद्रूपताओं को समाप्त करके सर्व

सुख प्रदत्तक भी हैं । सांस्कृतिक मूल्य के अन्तर्गत् समस्त शिक्षाओं का समावेश होता है । संस्कृति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व पर ही निर्भर है क्योंकि किसी समाज के सदस्यों के सांस्कृतिक सम्बंध ही सामाजिक संघटना का प्रारूप हैं । संस्कृति का एकमात्र प्रयोजन है-- आदर्श मानव व आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करना । गुप्त जी ने काव्य में देव संस्कृति, दानव संस्कृति तथा मानव संस्कृति का विशद् एवं व्यापक वर्णन किया है, किन्तु मानव संस्कृति को ही उन्होंने उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है । अपने काव्य में भारतीय ललित कलाओं का वर्णन कर उन्होंने भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित किया है । इस प्रकार उनके काव्य में मानव-मूल्यों की सामाजिक अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है।

मानव ने परमार्थ निष्ठा से प्रेरित होकर एक ऐसा विलक्षण आयाम ढूँढ़ निकाला है, जिसे आध्यात्मिक जीवन कहा गया है । यह आध्यात्मिकता जीवन के प्रत्येक पहलू पर मानव को विशिष्ट मूल्य प्रदान करती रही है । अध्यात्म में जिस ज्ञान साधना का महत्त्व है, वह व्यवहारिक नहीं अपितु मनुष्य के चरमोत्कर्ष की साधना है । धर्म में जिस ज्ञान की आवश्यकता समझी गई वह नित्य और सत्य है । धर्म द्वारा साधक निर्वैयक्तिक मूल्यों की खोज करता है, जिसे वह परम श्रेय मानता है । अतः सियारामशरण गुप्त ने आध्यात्मिक मानव-मूल्यों द्वारा ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित कर सम्पूर्ण जगत् को ऐक्य की सीमा में आबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है ।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में मानव-मूल्यों के निरन्तर ह्रास के कारण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना में भी विकार उत्पन्न हो रहे हैं, जिनके निदान हेतु सियारामशरण गुप्त की 'मानव-मूल्य' परक समन्वयात्मक दृष्टि सक्षम सिद्ध हो सकती है ।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

हिन्दी ग्रंथ :

उपजीव्य ग्रंथ :

1. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड -1) : सम्पादक ललित शुक्ल, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1992
2. सियारामशरण गुप्त रचनावली (खण्ड -2) : सम्पादक ललित शुक्ल, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1992

उपस्कारक ग्रंथ :

1. अनघ : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), पंचम सं. 2005
2. अर्जन और विसर्जन : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), द्वितीय सं. 1946
3. अशोक के फूल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, सप्तम सं. 1990
4. अस्मिता के लिए : डॉ. विद्यानिवास मिश्र, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1981
5. आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन : डॉ. निर्मला जैन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1993
6. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं. 1962
7. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1952
8. आस्था और सौन्दर्य : डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1990
9. आस्था के चरण : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं. 1968
10. एक खूनी नाव : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, किताबघर, नई दिल्ली, तृतीय सं. 1994
11. कबीर ग्रंथावली : सम्पादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 1996
12. कबीर ग्रंथावली : सम्पादक श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय सं. 1978
13. कलिंग विजय : रामधारी सिंह दिनकर, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1992

14.कवितावली : अनु. इन्द्रदेव नारायण, गीताप्रेस गोरखपुर, तीसवाँ सं. संवत् 2045 वि.
15.कामायनी : जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं. 1974
16.काव्य निर्णय : भिखारीदास, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, प्रथम सं. 1956
17.काव्य बिम्ब : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1967
18.किसान : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), तृतीय सं. संवत् 2013 वि.
19.कीर्तिलता : सम्पादक बाबूराम सक्सेना, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय सं. संवत् 2014 वि.
20.कुरूक्षेत्र : रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पंचम सं. 1996
21.केशव और उनका साहित्य : डॉ विजयपाल सिंह, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय सं. 1967
22.कोयला और कवित्व : रामधारी सिंह दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, चतुर्थ सं. 1987
23.गाँधी विचार दोहन : किशोरलाल मशरूवाला, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, प्रथम सं. 1947
24.ग्राम्या : सुमित्रानंदन पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1986.
25.गीता रहस्य : बाल गंगाधर तिलक, साहित्य भंडार, मेरठ, सप्तम सं. 1976.
26.घनानन्द का काव्य : डॉ. रामदेव शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1996
27.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस प्रा. लि., प्रयाग, पंचम सं. 1965
28.जलते और उबलते प्रश्न : डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, बोहरा प्रकाशन, जयपुर, प्रथम सं. 1966
29.जायसी ग्रंथावली : सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पंचम सं. संवत् 2052 वि.
30.जीवन-मूल्य : प्र. ग. सहस्त्रबुद्धे, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1992.
31.जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास : डॉ. राजेन्द्र मुनि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, जोधपुर, तृतीय सं. 1996
32.तुलसी काव्य : सम्पादक डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय सं. 1994
33.दोहावली : अनु. हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम सं.संवत् 2054 वि.
34.धम्मपद : अनु. चन्द्रमणि भिक्खू, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, प्रथम सं. 1968
35.धर्म और समाज : डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सं. 1963

36.धर्म तुलनात्मक दृष्टि : डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सं. 1962
37.नदी, नारी और संस्कृतिः विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1993
38.नयी कविता में मूल्य बोध : शशि सहगल, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं.1976
39.पंचवटी : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), षष्ठ सं. संवत् 2033वि.
40.पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र : सिद्धांत और परिदृश्य : डॉ. नगेन्द्र, पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, प्रथम सं. 1984
41.पृथ्वीराजरासो : सम्पादक हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 1961
42.प्रगतिशील साहित्य के मानदंड : डॉ. रांगेय राघव, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम सं. 1954
43.प्रेम पथिक : जयशंकर प्रसाद, अरुण प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1988
44.प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त : डॉ. निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं. 1965
45.बदलते सामाजिक मूल्य और हिन्दी नाटक : सरोज कुमार, ओम संस पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1994
46.बिहारी सतसई सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ : डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1994
47.बोधा ग्रंथावली : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम सं. संवत् 2031 वि.
48.भक्तिकालीन सन्त-साहित्य और मानव-मूल्य : डॉ. हरिश्चन्द्र मिश्र, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1992
49.भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में युग-चेतना : डॉ. बैद्यनाथ प्रसाद शुक्ल, प्रेम प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1977
50.भारतीय दर्शन :डॉ. बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर प्रकाशन, काशी, प्रथम सं. 1941
51.भारतीय नीतिशास्त्र : डॉ. रामनाथ शर्मा, रामनाथ प्रकाशन, मेरठ, प्रथम सं. 1962
52.भारत-भारती : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), तीसवाँ सं. संवत् 2021 वि.
53.भारतीय संस्कृति : प्रो. शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रथम सं. 1944
54.भारतीय संस्कृति : बाबू गुलाबराय, रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर, द्वितीय सं. 1974
55.भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 1978

56.मानव-मूल्य और साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं.1960
57.मीराबाई की पदावली : सं. परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम सं. 1950
58.मूल्य-मीमांसा : डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम सं. 1973
59.यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), चौदहवाँ सं. संवत् 2050 वि.
60.युगवाणी : सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1982
61.रश्मिरथी : रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पंचम सं.1996
62.रामचन्द्रिका : केशवदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय सं. 1974
63.रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं.1949
64.रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना : डॉ. बच्चन सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम सं. संवत् 2015 वि.
65.विद्यापति : डॉ. शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 1989
66.विवेकानन्द साहित्य : अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, द्वितीय सं. 1989
67.वृंद सतसई : सं. श्यामसुन्दर दास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, प्रथम सं. 1931
68.वैदिक वाङ्मय का इतिहास :पं. भगवददत्त, प्रणव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1927
69.वैदिक साहित्य का इतिहास : डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं. 2000
70.वैदिक साहित्य एवं संस्कृति : डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं. 2000
71.वैदेही वनवास : पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, चतुर्थ सं. 1973
72.श्रीरामचरितमानस : टीकाकार हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, चौंतीसवाँ सं. संवत् 2047 वि.
73.संस्कृति का दार्शनिक विवेचन डॉ. देशराज, सूचना विभाग, लखनऊ, प्रथम सं.1957
74.संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय सं. 1956
75.संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. वचनदेव कुमार, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, प्रथम सं. 1995

76.सत्यार्थ प्रकाश : महर्षि दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, अट्ठाइसवाँ सं. संवत् 2002 वि.
77.सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय (खण्ड 1-80) : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, प्रथम सं. 1994
78.समाजवाद : डॉ. सम्पूर्णानन्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, षष्ठ सं. 1964
79.समाजशास्त्र के सिद्धान्त : राजेन्द्र जायसवाल, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ, प्रथम सं. 1979
80.साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), चौंतीसवाँ सं. 1996
81.साहित्य और संस्कृति : जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1979
82.साहित्य में शाश्वत मूल्य : प्रो. रमेशचन्द्र गुप्त, ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1974
83.साहित्य समीक्षा : बाबू गुलाबराय, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सं. 1974
84.सियारामशरण गुप्त : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, तृतीय सं. 1987
85.सुभद्रा समग्र : हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ सं. 2000
86.सूरसागर (पहला खण्ड) : सम्पादक नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पंचम सं. संवत् 2035 वि.
87.सूरसागर (दूसरा खण्ड) : सम्पादक नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पंचम सं. संवत् 2033 वि.
88.सोहनलाल द्विवेदी ग्रंथावली : सं. राकेश गुप्त, ग्रंथायन, सर्वोदय नगर, अलीगढ़, प्रथम सं. 1986
89.सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन : डॉ. रमेश कुंतल मेघ, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, द्वितीय सं. 1975
90.स्वर्णधूलि : सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बारहवाँ सं. 1993
91.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास (मूल्य संक्रमण) : हेमेन्द्र पानेरी, संधी प्रकाशन, जयपुर, प्रथम सं. 1974
92.हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य : डॉ. मोहिनी शर्मा, साहित्य सागर, जयपुर, प्रथम सं.1986
93.हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह : पं. परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1950
94.हिम किरीटिनी : माखनलाल चतुर्वेदी , भारतीय भण्डार, प्रयाग, तृतीय सं. संवत् 2013 वि.
95.हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन : डॉ. लक्ष्मी नारायण गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं. संवत् 2018 वि.

96.हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास : डॉ. रामस्वरूप शास्त्री, पुस्तक सदन, दिल्ली, प्रथम सं. 1962
97.हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, षष्ठ सं. 1996
98.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छत्तीसवाँ सं. संवत् 2056 वि.
99.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय सं. 1976
100.हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल-रीतिकाल : प्रो. महेन्द्र कुमार, आर्य बुक डिपो, दिल्ली, तृतीय सं. 1991
101.हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास : बाबू गुलाबराय, साहित्य भण्डार, आगरा, बत्तीसवाँ सं. 1967
102.हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, सप्तम सं. 1977
103.हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1996

संस्कृत ग्रंथ :

1. अथर्ववेद भाष्य : भाष्यकार क्षेमकरण दास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, द्वितीय सं. 1946
2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : महाकवि कालिदास, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, तेरहवाँ सं. 1988
3. ईशोपनिषद् : शंकर भाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, सप्तम सं. 1952
4. ऋग्वेद : भाष्यकार क्षेमकरण दास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, तृतीय सं. 1976
5. एकादशोपनिषद् : सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1988
6. ऐतरेय ब्राह्मण : सायण भाष्य, बम्बई प्रकाशन, बम्बई, तृतीय सं. 1862
7. कठोपनिषद् : शंकर भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सप्तम सं. 1952
8. कामसूत्र (वात्स्यायन) : सम्पादक देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, चतुर्थ सं. 1964
9. किरातार्जुनीयम् : महाकवि भारवि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, षष्ठ सं. 1964

10.कुमारसंभव (कालिदास) : सम्पादक शेषराज शर्मा, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, सप्तम सं. संवत् 2044 वि.
11.चाणक्यनीति दर्पण : भाष्यकार स्वामी जगदीश्वरानन्द, सरस्वती विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2002
12.तैत्तिरीय ब्राह्मण : सायण भाष्य, आनन्द आश्रम, संस्कृत ग्रंथावली, पूना, तेरहवाँ सं. 1920.
13.तैत्तिरीय संहिता : सायण भाष्य, आनन्द आश्रम, संस्कृत ग्रंथावली, पूना, अष्टम सं. 1938.
14.निरूक्त : सम्पादक बी. के. राजवाड़े, साहित्य भंडार, मेरठ, तृतीय सं. 1940
15.नीतिशतकम् : सम्पादक जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, तृतीय सं. 1974
16.पाणिनीय अष्टाध्यायी : सम्पाद श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वाराणसी, नवम् सं. 1987
17.भर्तृहरि शतकम् : अनु. स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1997
18.महाभारत : वेद व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, बीसवाँ सं. 2015 वि.
19.मीमांसा-दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, 1991
20.मुद्राराक्षस : सं. पं. कनकलाल ठाकुर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पंचम सं. 1983.
21.मेघदूत (महाकवि कालिदास) : अनु. वासुदेव शरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1971.
22.यजुर्वेद : भाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, षष्ठ सं. 1946.
23.योग दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, 1991.
24.रघुवंश (कालिदास) : सम्पादक हरदयाल सिंह, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, तृतीय सं. 1973
25.विदुर नीति : अनु. स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2002.
26.मनुस्मृति : सम्पादक राजवीर शास्त्री, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, तृतीय सं. संवत् 2046 वि.

27.वैशेषिक दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1991
28.शतपथ ब्राह्मण : सायण भाष्य, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ सं. 1918
29.श्रीमद् वाल्मीकि रामायण : पंडित पुस्तकालय, काशी, पच्चीसवाँ सं. 1951
30.सांख्य दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1991
31.सामवेद संहिता : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, पंचम सं. 1984
32.हितोपदेश : अनु. सुनील शर्मा, सुबोध प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1997

अंग्रेजी ग्रंथ :

1. An Introduction to Ethics : William Lillie, Allied, publishers, New Delhi, Second Edition 1980.
2. Encyclopedia of Religion and Ethics : James Hosting, t. Clark Edinburg, New York, Fifth Edition 1964.
3. Fundamental of Ethics : W. M. Urban, George Allen Unwin, London, First Edition 1930.
4. Human Values and Varieties : Henry Osborn Taylor, New York, Third Edition 1953
5. Life of Milton : S. Johnson, Macmillan Company, Madras, 1954.
6. Manual of Ethics : John S. Mackenzie, University Tutorial Press, London. Forth Edition 1968.
7. Principles of Literacy Criticism : I. A. Richards, Univarsal Book, New Delhi, Seventh Edition 1990.
8. The Biological Origin of Human Values : George Edwin Pugh, R.K.P. London, Sixth Edition 1978.
9. Varieties of Human Values : Charles William Morris, University of Chicago Press, Thrid Edition 1956

कोश :

1. आदर्श हिन्दी शब्दकोश : सं. आर. सी. पाठक, भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, प्रथम सं. 1986
2. बृहत्-हिन्दी कोश : सं. कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं. 2000

3. भारतीय संस्कृति कोश : लीलाधर शर्मा, 'पर्वतीय' राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सं. 1995
4. मानक हिन्दी कोश (खण्ड - 1,2,5) : रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय सं. 1993
5. वाचस्पत्यम् (भाग - 1,2,3,5,6) : सम्पादक तारानाथ तर्क वाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, तृतीय सं. संवत् 2026 वि.
6. संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी कोश : सूर्यकान्त, ओरियन्ट लॉंगमैन, नई दिल्ली, चतुर्थ सं. 1995
7. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, तृतीय सं. 1989.
8. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : सम्पादक द्वारका प्रसाद शर्मा एवं तारिणीश झा, रामनारायण लाल विजयकुमार, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 2000.
9. हिन्दी शब्द सागर : सम्पादक डॉ. श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, तृतीय सं. संवत् 2023 वि.
10. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम सं. संवत् 2020 वि.
11. A Dictionary English and Sanskrit : Monier Williams] Motilal Banarsi Dass, Delhi, Forth Edition 1976
12. Bhargava's Concisc Dictionary of the English language : Prof. R. C. Pathak, Bhargava's Book Depot, Varanasi, Eleventh Edition 1987
13. Oxford Dictionary and Thesaurus : Ed. Julia Elliot, Oxford University Press, Delhi, Second Edition 2001

पत्रिकाएँ :

1. आजकल, सम्पादक वेद प्रकाश अरोड़ा, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, फरवरी 1970
2. आर्य जगत्, सम्पादक श्री पूनम सूरी, आर्य समाज भवन, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली, अगस्त 1997
3. कल्याण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, मार्च 1968
4. परिशोध, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, मार्च 1993
5. वैदिक सुरभि, सम्पादक कामेश्वर शुक्ला, आर्य समाज, गुवाहाटी, अक्टूबर 2002
6. सम्मेलन पत्रिका, सम्पादक नर्मदेश्वर उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सितम्बर 1995

103830
19/2/08

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम : अरुणा कुमारी

शिक्षा : एम. ए.

विभाग : हिन्दी

शोध-प्रबंध का शीर्षक : मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सियारामशरण गुप्त के काव्य का अनुशीलन

प्रवेश शुल्क के भुगतान की तिथि : 19 सितम्बर, 2002

शोध-प्रस्ताव की संस्तुति :

(i) बी. पी. जी. एस : 30 सितम्बर, 2002

(ii) स्कूल बोर्ड : 18 अक्टूबर, 2002

पंजीयन संख्या : 687, दिनांक - 18.10.2002

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग